रामाश्रम सत्संग डिजिटल प्रकाशन

संत-प्रसादी

(भाग-16)

डॉ. करतार सिंह जी महाराज

के प्रवचनों का संकलन

रामाश्रम सत्संग (रजि०)

9-रामकृष्ण कॉलोनी, जी० टी० रोड,

ग़ाज़ियाबाद-201009 (उ०प्र०)

प्रकाशक :
डा० शक्ति कुमार सक्सेना
अध्यक्ष एवं आचार्य,रामाश्रम सत्संग (रजि०)
ग़ाज़ियाबाद (उ०प्र०)

सर्वाधिकार सुरक्षित :
डिजिटल संस्करण (जून, 2019)

प्रस्तावना

हम सब के लिए अत्यंत हर्ष का विषय है कि रामाश्रम सत्संग का डिजिटल प्रकाशन की श्रृंखला में पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का संकलन- संत प्रसादी भाग १६ प्रकाशित हो रहा है ।

मेरा ऐसा मानना है कि हम सबको, गुरुदेव के प्रवचनों की जो अमृत वर्षा हो रही है, उससे प्रेरणा लेकर अपने जीवन को वैसा बनाने का प्रयास करना चाहिए जैसा पूज्य गुरुदेव हमें बनाना चाहते थे । इस संकलन के प्रकाशन में ग्वालियर के प्रोफेसर आदर्श किशोर सक्सेना द्वारा दिए गये सहयोग के लिए, हम उनका धन्यवाद करते हैं ।

पूज्य गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना है कि उनकी अमृत वाणी के प्रवाह को जन जन तक पहुँचाने का अवसर हमें बार बार प्राप्त होता रहे ।

उम्मीद है की सत्संग परिवार को हमारा यह प्रयास पसंद आएगा ।

- डा॰ शक्ति कुमार सक्सेना

विषय-सूची

क्रम सं.

1. समर्पण का महापर्व है - गुरु पूर्णिमा

2. अच्छाई बुराई से मन को स्वतंत्र करो

3. अपने ध्येय के प्रति जागरूक रहें और गम्भीरता से प्रयास करते रहें

4. कृपा वृष्टि तो हर क्षण हो रही है लेकिन उसे ग्रहण करने के लिए तत्परता चाहिए

5. गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ?

6. गुरु के प्रति विश्वास

7. परमात्मा की दयालुता

8. प्रभु के स्थितप्रज्ञ ज्ञानी या भक्त के प्रिय गुणों में से एक प्रिय गुण है : क्षमा

9. प्रेम से परमात्मा की अनुभूति होगी

10. भक्त और सहनशीलता

11. मन प्रति क्षण चंचल रहता है

12. मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग

13. मानव जीवन में ईश्वरीय गुण सीखें - परमात्मा से साक्षात्कार करें

14. मन तू ज्योति स्वरूप है

15. संतों की महिमा और हमारे गुरुजन

16. सरलता, सत्संग और सेवा - श्रेष्ठ साधन

17. हमे दिखावटीपन से बचना चाहिए

समर्पण का महत्वपूर्ण पर्व है - गुरु पूर्णिमा

देखा जाय तो संसार के देशों में ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय नहीं है जहाँ गुरु की महानता और महत्व के प्रति व्यास पूजा या गुरु पूर्णिमा जैसा सुन्दर पर्व मनाने की प्रथा न हो । हमारे यहाँ, हमें यह दिन जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ले जाने वाले पूज्यतम मार्गदर्शक अर्थात गुरु की विशेष पूजा करने का अवसर प्रदान करता है ।

गुरु तो अपने शिष्यों की हर प्रकार सेवा करने के कारण पूज्य ओर हमारी कृतज्ञता के अधिकारी सदैव से ही होते हैं। परन्तु इस शुभ दिन प्रत्येक शिष्य/साधक का विशेष प्रयास होता है कि वह अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा को अपने सद्गुरु के प्रति आभार-स्वरुप प्रकट करे । गुरु भी विशेष उदारतापूर्वक अपने प्रिय शिष्यों पर भगवत-प्रसादी की अमृतवर्षा करते हैं ।

ये जो पुष्प या पुष्प- हार भेंट किये जाते हैं इनमें वास्तव में तो साधक का अहँकार समर्पित होना चाहिए । दीक्षा के समय यों तो सभी साधक अपने तन-मन-धन गुरुदेव के चरणों में अर्पित करने का वचन देते हैं, परन्तु वास्तव में हम स्वनिरीक्षण करके देखें कि क्या हम दे पाते हैं । तन ओर धन की भेंट तो सच्चे सद्गुरु चाहते ही नहीं । यदि शिष्यों की ख़ुशी के लिए कुछ स्वीकार करते भी हैं, तो वह नाम-मात्र ही लेते हैं। वह तो 'मन' अर्थात 'अहंभाव' की भेंट लेना चाहते हैं, जिससे शिष्य का उद्धार हो जाये ।

इसी प्रकार हम उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनका चरण स्पर्श भी करते हैं । गुरुवाणी का एक बड़ा सुन्दर शबद (पद) है कि यदि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है तो गुरु के चरणों को छुओ। गुरु के चरण केवल उनके शरीर के चरण नहीं हैं (इनसे भी लाभ होता है) । गुरुवाणी में जो संकेत है उसके अर्थ ये हैं कि उनके आत्मिक गुणों को अपने रोम-रोम में रमा लो, अपने भीतर में गुरु के सच्चे स्वरुप को बसा लो। हम जब तक गुरु के जो आत्मिक गुण हैं उनको अपनायेंगे नहीं ओर अपने अनात्मिक अवगुणों को त्यागेंगे नहीं, तब तक विशेष आध्यात्मिक प्रगति नहीं होगी । गुरु, जो ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरुप है, उसके चरणों में माथा टेकने का मतलब यही है कि हम सबसे पहले अपने अहँकार को, अपनी बुराइयों को, उनके

चरणों में अर्पण कर दें । उनके सदवचनों की प्रसादी लें, निर्मलता लें, उनके गुणों को अपनायें ओर हम वैसे ही हो जायें । वास्तव में वैसे तो हम हैं भी, पर अहँकार के कारण हम समझते हैं कि हम शरीर, मन या बुद्धि हैं । कोई समझता है कि मेरी बुध्दि तीव्र है, मैं तो अपनी बुद्धि के चातुर्य से दूसरों को प्रभावित कर लेता हूँ । ये सब मन की बातें हैं ,जो हमारे रास्ते की रुकावट हैं, हमारे अहँकार को पोषित करती हैं ।

गुरु पूर्णिमा पर्व के विषय में कहा जाता है कि भगवान व्यास के मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि सब लोग गुरु की पूजा करते हैं, सो मैं किस की पूजा करूँ ? इससे पहले यह घटना हो चुकी थी कि नदी में स्वच्छन्द भाव से गोपियाँ स्नान कर रहीं थी । तभी युवा पुत्र शुकदेव वहाँ से निकले । गोपियाँ उसी प्रकार से क्रीड़ा-मग्न निसंकोच भाव से निर्वस्त्र सी अवस्था में नहाती रहीं । कुछ ही देर में पीछे-पीछे कुछ वृद्ध संतों की टोली भी उधर से गुज़री तो गोपियों ने तुरन्त पर्दा कर लिया ।

मुनियों को गोपियों का यह व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । अतः ठहर कर उन्होंने गोपियों से प्रश्न किया कि - " हम लोग इतने बृद्ध हैं, आपके पिता समान हैं । आपने युवा शुकदेव से पर्दा नहीं किया, हमसे पर्दा क्यों किया ?" इस पर गोपियों ने उत्तर दिया कि, "महाराज जी, शुकदेव के ह्रदय में स्त्री-पुरुष की भावना ही नहीं है, किसी प्रकार की द्वन्द भावना नहीं है । उनके ह्रदय में केवल परमात्मा हैं । किन्तु आपके ह्रदय में अभी तक स्त्री-पुरुष का भेद-भाव है । इसलिए हमने ऐसा किया । "

उन गोपियों के उत्तर ने व्यास जी को सोच में डाल दिया । इसी दशा में उन्होंने मुनि-विद्वानों से पूछा कि वे स्वयं किसकी पूजा करें ? उत्तर मिला कि इस समय आपको स्पष्ट ही हो गया होगा कि शुकदेवजी के समान गुरु-पदवी योग्य अन्य कोई और नहीं है । तब उन्होंने शुकदेवजी को ऊँचे आसन पर बैठाकर उनकी पूजा की है । इसमें विशेष बात क्या है ? बात वही है जो मुनियों ने व्यास जी को सुझाई थी, बताई थी । व्यास जी तो स्वयं महान ज्ञानी थे, जो शास्त्र की बातें लिखते तथा ज्ञान का उपदेश देते थे, परन्तु उनके भीतर भी द्वैत था । इस मलीनता को दूर करने के लिए उन्होंने सत्य को अपनाया और उन्होंने अपने सुपुत्र शुकदेव जी चरणों की पूजा की और उनको गुरु का सम्मान दिया । ज्ञानी ह्रदय की द्वैत भावना दूर हुई ।

जहाँ प्रेम है, वहाँ अहँकार और अज्ञान नहीं रहता। सूफियों की भाषा में - ***' तर्के दुनियाँ, तर्के उकवा, तर्के मौला, तर्के तर्क ' - अर्थात " दुनियाँ को मन से तर्क करो, छोड़ो, फिर गुरु के ख्याल को छोड़ो, फिर ईश्वर के ख्याल को भी छोड़ो और अंत में फिर छोड़ने के ख्याल को भी छोड़ दो । "***

गुरु नानकदेव जी ने अपने प्रिय शिष्य अंगद देव जी (अंगद का मतलब होता है जिसने अपने आपको जला दिया है) को अपने स्थान पर गुरु नियुक्त किया है, उन्हें अपने स्थान पर बिठाया है और विधिवत नारियल, पुष्प आदि लाये हैं, उनसे उनकी पूजा की है और चार बार उनकी परिक्रमा करके उनके चरणों में चढ़ाई है । फिर उन्होंने अपने नाम से 'गुरु ' शब्द हटाकर केवल 'नानक' रहने दिया है और उन्हें 'गुरु अंगद देव' कहकर सम्बोधित किया है । ये होता ही आया है कि जब गुरु अपने उत्तराधिकारी शिष्य को अपना स्थान देता है तो उसकी पूजा करता है ।

पाँचवे सिख गुरु अर्जुनदेव जी रात को जब सब सो जाते थे, तो वे अपने गुरु के पैरों को गर्म पानी से धोते थे । उनकी दाढ़ी लम्बी थी, उस दाढ़ी से वे उनके पाँव पोंछते थे। शिष्य तो अपने गुरु की सेवा प्रेम से करते ही हैं, गुरु भी अपने शिष्य से अत्यंत प्रगाढ़ प्रेम करते हैं ।

हमारे दादा गुरुदेव पूज्य लालाजी (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) के दर्शन जिन्होंने किये हैं और उनकी संगति प्राप्त की है, वे जानते हैं कि वे रात्रि को १०-११ बजे आते थे । सब लोग फर्श पर सोये हुए होते थे, कोई ख़ाली जगह न मिलने पर जहाँ जूते पड़े होते थे, वे वहाँ चुपचाप सो जाते थे ।

महापुरुषों की लीला हमेशा से होती आयी है। वे इसलिए लीला करते हैं कि हमें उनके जीवन से प्रेरणा मिले । यदि वे ऐसा न करें तो हमें प्रेरणा कैसे मिलेगी ? केवल शब्दों से प्रेरणा नहीं मिलती। उनका जीवन हमारे लिए एक मिसाल होता है। वो हमारे दिशा-बोध के लिए प्रकाश-स्तम्भ होते हैं, ध्वज जैसे होते हैं जिसके पीछे-पीछे हम लोग चलें ।

पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लालजी महाराज) की सेवा में सेवक शुरू-शुरू में दिल्ली से सिकन्दराबाद गया, बड़ी गर्मी थी । उन दिनों शायद सिकन्दराबाद में पंखे नहीं लगे

थे। खस-खस की टट्टी लगी थी । आपने मुझे ठंडा पानी पिलाया और कहा कि " आप थोड़ी देर लेट जाइये, मैं अभी आता हूँ।" यह कहकर वे घर के अन्दर चले गए । तब घर में न तो कोई नल हुआ करते थे और न कोई जल-प्रदाय (water supply) के साधन ही हुआ करते थे । बस एक कुआँ था, गहरा सा । आपने उसमें से दो बड़ी-बड़ी बाल्टियाँ पानी भरा और स्नानगृह में रख दिया। अपने हाथ से उठाकर मेरी चप्पलें बाहर रख दीं । एक धुली हुई धोती और तौलिया भी वहाँ लटका दिया । फिर आकर मुझसे कहा कि, "आप स्नान कर लीजिये, फिर भोजन करेंगे।" ऐसे प्रेमिल और कृपालु होते हैं ये गुरुजन। संत ऐसे ही आत्मस्थित रहते हुए संसार का काम करते हैं ।

भगवान राम का जीवन आप सब जानते हैं। उन्होंने मनुष्य के रूप में साधारण साधक बन कर वशिष्ठ जी, विश्वामित्र जी और बाल्मीकि जी से उपदेश लिया। उपदेश लेकर वह कहीं चले नहीं गए । उन्होंने अपने जीवन का उदाहरण देकर बता दिया कि जीवन कैसे जीना चाहिए। एक समय ऐसा था कि जब भगवान राम को पता था कि २-४ घंटे में ही वे राजगद्दी के उत्तराधिकारी होने वाले हैं । आपको चक्रवर्ती राजा घोषित किया जा रहा है, परन्तु शीघ्र ही उन्हें उससे वंचित करके बनवास दे दिया जाता है। अचानक आज्ञा होती है कि १४ वर्ष के लिए बनवास करो। एक ओर महान सुख, दूसरी ओर महान दुःख । वे संसार को दिखाते हैं कि कैसे ऐसी अवस्था में भी अत्यन्त शान्त और समभाव में रहते हुए बिना किसी अन्य विपरीत भाव के जीवन जिया जा सकता है ।

सीता जी जो अत्यन्त कोमल हैं, जिनके पाँव तले फूल बिछते थे , गद्दे ओर कालीन रहते थे, उनको भी कह दिया जाता है कि वन में चली जाओ, वनवासी पति की हर प्रकार से सेवा करो।जंगल से लकड़ी, भोजन आदि का प्रबन्ध करो, आदि-आदि। वास्तव में उन्होंने अपनी स्वयं की इच्छा से ऐसा जीवन स्वीकार किया। वो महान स्त्री थीं, एक आदर्श जीवन जीकर सबको प्रेरणा देती हैं कि संकट के समय भी अपना कर्तव्य ओर धर्म तथा धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए ।

जितने भी महापुरुष हुए हैं (भगवान राम, श्रीकृष्ण जी तथा अन्य संत आदि) वे प्रत्येक साधक को प्रेरणा देते हैं कि हम अपने अहँकार को छोड़ें ओर दीनता को अपनायें । पुरातन काल

में न जाने कितने ऐसे महापुरुष हुए होंगे जिन्होंने परमज्ञानी होते हुए भी दीनता को अपनाया । जब तक दीनता नहीं आएगी, साधना नहीं होगी । परमसंत कबीर साहब को ही लीजिये । कितने दीन बने, मानो सारा संसार उनसे अच्छा है, बस वही बुरे हैं -

" बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय !

जो घर खोजा आपना, मुझ से बुरा न कोय !!

गुरु नानक देव जी भी कहते हैं -

" जेता सागर नीर भरा, तेते अवगुन मोहिं "

ओर उन्हीं की दीनता है कि,

" निंदौ, निंदौ मोकहि निंदौ "

आज का पवित्र दिन अपने पूज्य गुरुदेव के चरणों में पुनः समर्पण करने (rededication) का दिन है । यह शरीर भी आपका, यह मन भी आपका ओर सब कुछ आपका, परन्तु यह सब कहने भर के लिए नहीं, सचमुच मन से समर्पण होना चाहिए ।

हम तो यह सब भूल ही जाते हैं। सत्संग ख़त्म होते ही खाने-पीने में, बातों में लग जाते हैं तथा सब भूल जाते हैं। ये मन की वृत्ति है । किसी का दोष नहीं है। चाहिए यह कि हम क्षण प्रति क्षण जाग्रत रहें ओर प्रयास करें कि हमारा मन प्रत्येक क्षण गुरु-चरणों में लीन रहे ।

आज हम सब मिलकर पूज्य गुरुदेव की जीवन-लीला का स्मरण करें। उन्होंने अपने जीवन से जो उदाहरण हमारे सामने रखे हैं, हम वैसा आदर्श जीवन जियें, जीने का अधिक से अधिक प्रयास करें । हम उनके पद-चिन्हों पर चलने का पुनः संकल्प करें । गुरु सेवा का सर्वोत्तम रूप - सेवा कई प्रकार की होती है । हाथ-पाँव की सेवा, धन की सेवा, परन्तु मन की सेवा बहुत ऊँची है । यानी जो कुछ आपके इष्टदेव कहें, वही हुक्म है । उनकी आज्ञा का पालन करें। यदि यही बात ध्यान में रखें कि जो भी गुरु महाराज के आदेश हैं - उन्हीं का पालन करते चले जायें तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आत्मा का साक्षात्कार दूर नहीं है ।

परन्तु हम ऐसा करते नहीं हैं। हम उनकी बातों की तरफ ध्यान नहीं देते, अपनी मनमानी करते हैं । दीक्षा लेते समय जब हमने तन, मन, धन देने का वचन दिया तो हमारा अब इन चीज़ों से मोह क्यों है? परन्तु है कोई ऐसा व्यक्ति जिसको अपने शरीर से मोह न हो, अपनी धन-सम्पत्ति या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के प्रति आसक्ति न हो या जिसने अपने विचारों को छोड़ दिया हो ?

काफी समय हो गया है। आपसे बारम्बार यही अनुरोध करूँगा कि जो आपके इष्टदेव के आदेश हों, उनके पालन में कभी संकोच या विलम्ब नहीं करना चाहिए। विश्वास मानिये कि इसी सेवा के द्वारा आप आत्म-साक्षात्कार करके अपना जीवन सफल कर लेंगे, मानव जीवन को धन्य ओर सार्थक कर सकेंगे ।

गुरुदेव आप सब पर कृपा करें। उनकी कृपा तो हम सब पर बरसती ही रहती है। सूफियों में इसे 'फ़ैज़ ' कहते हैं । इसे हर वक़्त ग्रहण करते रहना चाहिए। सूर्य तो प्रकाश देता है पर यदि हमारे घर की खिड़की बंद हो तो हम उस प्रकाश यानी फ़ैज़ से वंचित रह जाते हैं ।

इस कृपा को ग्रहण करने का साधन ही हमारे यहाँ कराया जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि गुरु शारीरिक रूप में ही आपके पास बैठा हो। आपका ध्यान उसकी तरफ हो तो वह भी गुरु का संग है ।

मेरे से जो सेवा हो सकती है, जैसी भी मैने आज तक की है , अच्छी या बुरी, उसे स्वीकार करें ओर मेरे लिए भी प्रार्थना करें कि मैं भी आपकी योग्य सेवा कर सकूँ - हाथ-पाँव से, शरीर से, मन से तथा आत्मा से, हम सब मिलकर प्रार्थना करें कि आज के पावन पर्व पर गुरुदेव हमें शक्ति दें कि जैसा वे हमसे आशा रखते थे वैसे हम बनें - अपना जीवन सफल करें।

मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं, गुरुदेव आपका कल्याण करें ।

राम सन्देश जुलाई-सितम्बर, २०१३

अच्छाई-बुराई से मन को स्वतंत्र करो

हमें यह देखते रहना है कि क्या हम निरन्तर सत्यता में चल रहे हैं ? सच बोलना और सत्यता ही में रहना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं । सच बोलना तो सरल है, परन्तु सत्यता में रहना, आत्मस्थित रहना, परमात्मा के चरणों में रहना, प्रभु के स्मरण में रहना, उस आयाम में रहना जहाँ कोई अपेक्षा नहीं होती, सरल नहीं है । यह सत्य है। जो परिवर्तनशील बातें हैं वे सब असत्य हैं । तो क्या हम अपने आप को सत्य की दुनियाँ में पाते हैं ? ऐसा कोई दावे के साथ नहीं कह सकता । हमारे भीतर में इच्छाएं हैं। अच्छी इच्छा भी हैं । सबसे उत्तम इच्छा परमात्मा से मिलने की इच्छा हैं। हमारी कोई बुराई करता हैं तो हमें बर्दाश्त नहीं होती । कोई हमारी प्रिय वस्तु उठा कर ले जाता हैं तो हम उसका पीछा करते हैं । परन्तु हज़रत ईसा कहते हैं कि बुराई का अवरोध मत करो । आपका सामान कोई चोरी करके ले जा रहा तो ठीक हैं, उसे ले जाने दो । कोई आपको गालियां दे रहा हैं तो ठीक हैं, देने दो। आप कहेंगे कि हम व्यवहार में ऐसा कैसे कर सकेंगे।,ऐसे हम कैसे जी सकेंगे ? एक ज़माने में सुना करते थे कि हमारे देश में रात में दरवाज़े बंद नहीं किये जाते थे । चोरियां नहीं हुआ करती थीं। यह सत्य का गुण हैं, आत्मा का नहीं । हज़रत ईसा उस आयाम से बोल रहे हैं । वह उस पथ से बोल रहे हैं जहाँ कोई भय नहीं हैं । वो जो अतीत अवस्था हैं, निराकार अवस्था हैं, जहाँ कोई आकार नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा हैं । सचखंड हैं, परलोक हैं, जहाँ कोई किसी भी तरह से बुराई नहीं करता न आँख से, न कान से, न मुँह से, न व्यवहार से कुछ बुरा करता हैं क्योकि वह सबको व अपने आपको एक ही समझता हैं । वहाँ द्वेत नहीं हैं , वहाँ दुइ नहीं हैं ।

सत्य के बाद वो अद्वैत का समय ख़त्म हो गया। द्वैत का समय शुरू हो गया । हम धर्म संकट में पड़े रहते हैं क्योकि हम गुणों में फंस गए हैं । बुरा काम करेंगे, बुरा फल मिलेगा, अच्छा काम करेंगे अच्छा फल मिलेगा। कलियुग में कोई अच्छा काम तो करता नहीं है, बुरे काम ही करते रहते हैं। हम किसी भी रास्ते को अपना लेते हैं व फिर मन ही मन सोचते हैं कि अरे, इसमें क्या रखा है? वैसे तो यदि कोई सच्चा महापुरुष मिल जाता है, तो उस महापुरुष की प्रसन्नता ही काफी है । उसकी प्रसन्नता प्राप्ति के बाद हम कर्मों की दुनियाँ

से निकल सकते हैं । हम इन गुणों-अवगुणों से मुक्त हो सकते हैं । इसके लिए भी तैयारी करनी होगी । इसलिए सन्त संक्षेप में लिखते हैं कि केवल दो बातें की जाएँ - भक्ति तथा साधना। भक्ति अनन्य भक्ति हो तथा निष्काम हो । कोई इच्छा न हो। केवल अपने इष्ट को, परमात्मा को, गुरु को प्रसन्न करना है । इस काम में हम अपना जीवन लुटा दें । सब कुछ बलिदान कर दें, सेवा करें । देखिये कि हमारे इष्टदेव किस प्रकार खुश होते हैं । उनकी प्रसन्नता प्राप्त करें । भक्ति में मीरा जी, चैतन्य महाप्रभु का उदहारण देखें तो आप देखेंगे कि भक्ति के कितने भाव हैं- विश्वास, श्रद्धा, आदि । वर्तमान काल में पूज्य लाला जी (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) का उदहारण सबसे ऊँचा उदाहरण है । अपना कुछ नहीं है, अपना शरीर भी नहीं, प्राण भी नहीं, मन भी नहीं, बुद्धि भी नहीं । प्रभु के चरणों की रज बने हुए हैं । एक मिनट भी अपने इष्ट के ख्याल से न हटें । यह अंतिम सिद्धि है । इसके साथ-साथ साधना भी करें । साधना का क्या अर्थ है ? समाधि में प्रवेश होना। अपने इष्ट के चरणों की रज बनना । उसी रज की अनुभूति होना। साधना करते-करते अपने 'अहं' को खो देना । जिस आंतरिक स्थान पर साधना करने को आपके इष्ट ने कहा है वहाँ अपनी सुरत को इतना भीतर में प्रवेश कर दो कि आपको अपने शरीर का भी होश न रहे। संकल्प-विकल्प न उठें । जितनी गहरी सुरत भीतर में प्रवेश करेगी उतना ही ध्यान गहरा जायेगा। (deep meditation), गहरी समाधि । ऊपर-ऊपर के स्तर पर नहीं । - जहाँ भीतर में मन लय हो जाय, संकल्प-विकल्प रहें ही नहीं, केवल आत्मा की या परमात्मा की अनुभूति हो। जब इस आयाम पर पहुँच जायेंगे तो भीतर में से बुराई-भलाई दोनों गायब हो जायेगी। जब तक ये दोनों रहते हैं तब तक व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकता ।

महाभारत में यही बात अर्जुन को दुःख दे रही है। वह कहता है कि इस युद्ध के मैदान में मेरे चाचा , ताऊ, मेरे गुरुजन सब खड़े हैं । मैं इनका बध करके क्या लूँगा ? यदि मुझे परलोक मिल भी गया, मुझे राज भी मिल गया तो भी ऐसे राज का क्या महत्त्व है ? कोई बाप, चाचा, ताऊ को मार के राज ले ?। मैं भगवान को कह दूँगा कि ऐसा राज मुझे नहीं चाहिए। तो अर्जुन बुराई-भलाई के दलदल में फंसे हैं। गीता आगे चलकर इसका विस्तार करती है कि अनहद शक्ति अनासक्ति ही है । हम तो आसक्त हो रहे हैं। हम अनासक्त कैसे हों ? हमें प्रत्येक बात से अनासक्त होना है, स्वतंत्र होना है, मुक्त होना है । भगवान् धीरे-धीरे अर्जुन

को समझाते चले जाते हैं । उस समय जितने दर्शन थे या साधना पद्धतियां थीं, उनको धीरे-धीरे समझाते हुए आखिर में आगये कि सब धर्म छोड़ दे , कर्म-धर्म ही तो बुराई-भलाई करते हैं। उन कर्मों-धर्मों का कोई भी समय नहीं है। वे कब छूटते हैं ? जब भीतर में अंतिम-चेतना, आत्मिक-चेतना आ जाती है । इससे पहले बुराई-भलाई को छोड़ेगा तो धोखा है ।

तो पहले सदाचार को अपनाना चाहिए । ये नींव है। पहले इसी को पकडे रहिये फिर साधना करें और अनुभूति की ओर बढ़ें । ज्ञान , प्रेम सब कुछ आने के बाद आत्मा की अनुभूति होती है । अनुभूति भक्ति के परिणाम स्वरुप चाहे गुरु करा दे, परमात्मा करा दें, चाहे आप कर लें, लेकिन वो अनुभूति निरन्तर नहीं रहेगी । फंसे रहेंगे नामदेव की तरह । नामदेव रोज़ प्रभु से बातें करते थे। वो उसी में अटक गए। संत ज्ञानेश्वर जी जब यात्रा पर चले तो वह नामदेव जी से भी बोले कि मेरे साथ चलो। नामदेव बोले मैं तो नहीं जा सकता । मेरे से भगवान रोज़ बातें करते हैं , मैं कैसे चलूँ ? वे बोले ठीक है, भगवान् से पूछ लो । वे अगर आज्ञा दें तो ज़रूर चलें। वे भगवान के अनन्य भक्त थे, बड़ी निष्ठां थी । नामदेव ने पूछा तो भगवान ने क्या कहा ? कहा कि मुझको क्यों पकडे हो । पकड़ को कहते हैं आसक्ति । भगवान ने कहा कि चले जाओ ओर घूमों और देखो कि मैं कहाँ नहीं हूँ । नामदेव जी को तब ज्ञान हुआ। वे यात्रा पर निकले ओर अनुभव किया कि भगवान् तो सभी जगह हैं । यह अनुभूति कब होती है ? जब व्यक्ति इस मन से स्वतंत्र हो जाता है । इस बुराई-भलाई से छूट जाता है। अच्छा-बुरा ये सब अपेक्षित शब्द हैं। सब मन के शब्द हैं । अहंकार के शब्द हैं। तो भगवान् कृष्ण ने पहले अर्जुन को समझाया फिर विराट रूप में दर्शन दिए । हालांकि यह भी उच्च कोटि का मन का ही रूप है क्योकि आत्मा का तो कोई रूप नहीं होता। अर्जुन को समझाया कि पिछले जन्मों में तुम क्या थे, अब क्या हो। यह सब मन का व कर्मों के फल का एक रूप बतलाया। वो आत्मा का रूप नहीं है। पूज्य लाला जी महाराज ने पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लालजी) को लाल मंदिर, चांदनी चौक में अनुभव कराया था । चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, कोई रोक नहीं, केवल प्रकाश ही प्रकाश है, आनन्द ही आनन्द है, कोई अपेक्षा नहीं, कोई भलाई नहीं, कोई बुराई नहीं । एक ही है , मैं ओर तू नहीं। जहाँ मैं है वहाँ तू हो जाता है। तो भगवान् समझा रहे हैं कि यह बुराई-भलाई मन का ही रूप है, अहंकार का ही रूप है। इससे मुक्त हो। हम इससे कब मुक्त होंगे ? जब हम आत्मा में डुबकी लगाते -लगाते आत्म-

स्थित हो जाएंगे । उससे पहले नहीं। यह एक दिन में नहीं होगा । निरन्तर उस अवस्था में रहना है। भीष्म पितामह छः महीने तक तीरों की सेज़ पर लेटे रहे। कहा है, शुक्ल पक्ष नहीं आया।वह कर्म-धर्म में फंसे हुए हैं । वह मरते वक्त तक कर्मों के बंधन से नहीं छूटे । वह परलोक में भले ही गए हों परन्तु कर्मों के बंधन से नहीं छूटे। पाण्ड़वों को ही ले लीजिये। यह तो स्पष्ट है कि जब पाँचों भाई परलोक की तरफ बढे तो केवल युधिष्ठिर को ही स्वर्ग में प्रवेश मिला, परलोक मिला। कहीं नहीं लिखा है कि मोक्ष मिला । हमें इन बातों में नहीं पड़ना है । हमें तो वास्तविकता देखनी है। हम जब गहरी नींद में सोते हैं तो क्या होता है, कुछ नहीं होता । इसी तरह की यह अवस्था महर्षि रमण को आती थी । जब यह अवस्था हो जाती है तब यदि मन विचार उठाना भी चाहेगा तो भी विचार बड़ी मुश्किल से उठेंगे । आत्मा और परमात्मा एक हैं। न बुराई है, न भलाई है। जहाँ बुराई नहीं है, भलाई नहीं है, कर्म नहीं हैं, कर्म- बंधन नहीं है, वहीँ मोक्ष है। वही गुरु का रूप है। वही आपका अपना रूप है। वो आत्मा आपके भीतर में है। हम स्वयं ही रेशम के कीड़े की तरह अपने आपको बांधते रहते हैं ।

भक्ति व साधना दोनों ही मुख्य बातें हैं जो हमारे सामने होनी चाहिए। हमारे सामने रहनी चाहिए । गुरु की प्रसन्नता। प्रसन्नता सिर मांगती है । हम चाहते है कि मोक्ष पेड़ पर लगा है, वो हमें तत्काल अप्रयास ही मिल जाए। ऐसा नहीं हो सकता । उस प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए हमें अपना सिर देना होगा :

" जो तोहे प्रेम करन को चाव ,
सिर धर तली गली मोरी आव "

मेरी गली में आना है तो अपने हाथ में अपना सिर रख कर आ । यह प्रेम का घर है, खाला का घर नहीं । सब कुछ भूल जाएँ । जितने कर्म हों सब निष्काम भाव से करें । यह कठिन है कि हम एक ही जन्म में सिर काट कर रख दें , यानी जीते जी मर जाएँ , किन्तु हम भरसक प्रयत्न तो करें । गुरु की प्रसन्नता के लिए प्रार्थना करें। वो आपके पास है, आपके अन्दर है । भगवान कहते हैं कि गुरु और परमात्मा एक ही हैं और वह भी आपके भीतर में बैठा है । उसकी प्रसन्नता प्राप्त करो । वैसे तो अनेक प्रकार की साधनायें हैं, उन सब का सार है - भक्ति। ऐसी भक्ति जिसमें कोई मांग नहीं है । केवल वैसा विश्वास होना चाहिए जैसा विश्वास प्रह्लाद जी में था । प्रह्लाद जी ईश्वर रूप थे, इसलिए उनको न आग सताती है, न पहाड़ से

गिराए जाने पर कोई परेशानी होती है । ऐसा तो स्वयं प्रभु ही कर सकते थे । प्रह्लाद जी तो आत्म- स्वरुप थे । यह तो ईश्वर की लीला थी कि बाल प्रह्लाद के रूप में भगवान स्वयं आये हैं और संसार को प्रेरणा दी कि ईश्वर में विश्वास इस तरह का होना चाहिए । जैसे माता-पिता बच्चों को दुःख नहीं देते, इसी प्रकार से ईश्वर भी किसी को कोई दुःख देना नहीं चाहता । लोग बाग़ कहते हैं यहाँ यह हो रहा है, वहाँ ऐसा हो रहा है, प्रभु बड़ा अन्याय कर रहे हैं। हम यह सब कब कहते हैं ? जब हम मन के स्थान पर होते हैं, अहंकार के स्थान पर होते हैं। यदि आत्मा के स्थान पर आकर हम ये शब्द निकलना चाहें तो निकलेंगे ही नहीं । यह सब हमारे कर्म ही हैं जो फलीभूत होते हैं । उन्हीं का यह फल है । हम ही दोषी हैं । कोई भी बात जो हमारे परिवार में, हमारे देश में या हमारे समाज में होती है,उसके लिए हम स्वयं दोषी हैं । हम तब तक दोषी बने रहेंगे जब तक हम अहंकार के स्थान पर हैं । आप जब आत्मा के स्थान पर आ जायेंगे तो आपको लगेगा कि इसमें कोई बुराई नहीं है । सब ईश्वर की लीला है, भगवान की लीला है । वो स्वयं ही बुरा कर रहा है, स्वयं ही भला कर रहा है। बुराई भलाई कुछ है ही नहीं । उसके ये नाम तो हमने रख दिए हैं। वो तो ड्रामा है । ईश्वर अपने भक्त में रासलीला करते हैं । सन्सार को प्रेम लीला सिखाते हैं। सन्सार को सिखाते हैं कि ईश्वर की आज्ञा का पालन कैसे हो । परन्तु यह मन समझ ही नहीं पाता कि ईश्वर की आज्ञा क्या है । बड़ा कठिन है ईश्वर की आज्ञा को मानना। इसीलिए गुरु किया जाता है। मन हमेशा धोखा देता है । हम गुरु की सच्ची सेवा करें। गुरु की सच्ची सेवा यही है कि हम गुरु के आदेशों का पालन करें । उनके आदेशों का पालन करते हुए भगवान कृष्ण की यह जो रासलीला है उसमें मस्त रहें । हमें यह जो बुराई भलाई दिखती है वह मन की है, आत्मा की नहीं ।

आत्मा तो सबसे अलग कुछ और ही है। यह बात जैसे- जैसे हम गुरु के आदेशों का पालन करते हैं, धीरे-धीरे समझ में आती है । गुरु के आदेशों का पालन करना ही उनकी सेवा है। गुरु को पैसों की, सम्मान की ज़रुरत नहीं होती । उनको हाथ-पाँव की सेवा की भी ज़रुरत नहीं है । एक माँ की तरह वह चाहते हैं कि जो लोग इस रास्ते पर आ गए हैं उनका जीवन परिवर्तित हो जाय, उनका ट्रांसफॉर्मेशन हो जाय । उनका मन और बुद्धि अहंकार को छोड़कर आत्मस्थित हो जाय, मोक्षगति को प्राप्त हो जाय । वे सच्चे आनंद और सच्चे प्रेम के हक़दार हो जाय ।

जब तक चेतना आत्ममय नहीं होती, हमें धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए । परन्तु मोक्ष के लिए अपनी आत्मा को परमात्मा में लय करना होगा । जैसे हज़रत ईसा और फरीद जी ने कहा कोई तुम्हारी मार-पिटाई करे तो तुम उसकी ऊँगली भी मत छूना । बल्कि उसके घर जाकर बड़े प्रेम से उसके पाँव दबाना। हम तो सोचते हैं कि यह कैसे हो सकता है। वो कहते हैं कि उनके घर जाकर उनकी सेवा बड़े प्रेम से करो । यह फरीद जी जैसे उच्च कोटि के संत ही कह सकते हैं, हम नहीं कह सकते। यह दूसरी बात है कि समाज के डर के मारे हम बुराई का बदला बुराई से न लें । परन्तु हज़रत ईसा कहते हैं कि यह अवरोध मन से ही नहीं होना चाहिए। हम चौबीसों घंटे भलाई-बुराई की बातें सोचते रहते हैं । वह कहते हैं कि हमारे प्रति बुराई करने वाले का बुरा हमें मन से भी नहीं सोचना चाहिए। ऐसा कौन कर पायेगा ? ऐसा वह कर पायेगा जो व्यक्ति पवित्र है, जिसका आत्मिक सूर्य भीतर से उदय हो गया है, जो परमात्मा से मिला हुआ है। उसके भीतर में उसके प्रति बुराई करने पर भी यह विचार नहीं उठता कि मैं किसी की बुराई करूँ। यह बड़ा कठिन है। परन्तु हमें ऐसा करना ही होगा । यह अवस्था हमारी क्यों नहीं होती ? होगी, ज़रूर होगी, परन्तु समय लगेगा। सुधार सबका होगा, परन्तु समय लग सकता है। समय की गति किसी प्राणी के हाथ में नहीं होती । मनुष्य का केवल यह अधिकार है कि वह आगे बढ़ सकता है या पीछे गिर सकता है । यह उसके हाथ में है । आप सब लोग गुरु-कृपा से कितने अच्छे रास्ते पर लगे हुए हैं । चल तो रहे हैं परन्तु और तेज़ी से चलिए । ऊपर-ऊपर की साधना करने से कोई लाभ नहीं होने का । आत्मा की अनुभूति होनी चाहिए । उसी अनुभूति की गहराई से हमारे पापों का नाश होगा, संस्कारों का विनाश होगा । हमें सच्चा सुख मिलेगा। हमें मोक्ष मिलेगी । हमें ईश्वर के दर्शन होंगे। तो भक्ति भी करते जाइये मगर याद रखना चाहिए कि हमारी साधना से हमें भीतर की अनुभूति हो, मन स्थिर हो जाय, संकल्प-विकल्प ख़त्म हो जाएँ। हमारी सुरत गुरु के चरणों में लय हो जाए और हमारा अपना अस्तित्व ख़त्म हो जाए ।

गुरुदेव आपका कल्याण करें । राम सन्देश : नवम्बर, १९८४

अपने ध्येय के प्रति जागरूक रहें और गंभीरता से प्रयास करते रहें

मैनें बारम्बार निवेदन किया है, और आज फिर प्रार्थना कर रहा हूँ, कि प्रत्येक सत्संगी भाई-बहिन को अपने लक्ष्य के प्रति गंभीर होना चाहिए । सत्संग में आये, इधर-उधर की बातें सुनी, प्रसाद लिया और फिर बातें करते हुए घर चले गए। हमने ग्रहण क्या किया, हम काहे के लिए यहाँ आये ? घर से चलने से पहले सोच लेना चाहिए कि हम सत्संग में जा रहे हैं तो हमें वहाँ जाकर क्या करना है। क्या लेने जाना है, वहाँ ? क्या सीखना, समझना और करना है ?

पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) हमें चेतावनी देते रहे कि प्रत्येक व्यक्ति को खूब समझ लेना चाहिए कि हमारा यह शरीर नश्वर है, सदा रहने वाला नहीं है । इस शरीर के साथ मोह या अन्य शरीरों के साथ लगाव या संसार के साथ चिपकना एक ही बात है। इस चिपकाव-लगाव के बंधन से मुक्त होने का प्रयास होना चाहिए, जो कि बड़ा कठिन है। माता-पिता बच्चों से चिपके हुए हैं, बच्चे माता-पिता से चिपके हुए हैं और इसी तरह के अपनी ओर खींचने वाले संसार में बहुत सारे प्रलोभन हैं ।

सबसे ज़्यादा चिपकाव व्यक्ति का अपने विचारों के साथ होता है । कोई व्यक्ति नहीं है जो सारा दिन विचारों के जंगल में नहीं घिरा रहता। कोई नहीं है जो हर समय कुछ न कुछ सोचता नहीं रहता । मैं यह करूँगा, मैं वह करूंगा, मैं ऐसा मकान बनवाऊंगा, वैसा बिज़नेस करूंगा - सारा दिन इसी उधेड़ बुन में फंसा रहता है । और फिर रात को स्वप्न भी इसी तरह के आते हैं ।

यह तो ईश्वर की कृपा है कि दो-चार घडी के लिए हम लोग यहाँ सत्संग में आ जाते हैं । किन्तु इन गिने-चुने मिनिटों में भी हमारा ध्यान संसार भर की अपनी समस्याओं की ओर ही भटकता रहता है। ईश्वर के चरणों की तरफ ध्यान नहीं जाता । गुरु महाराज चेतावनी दे रहे हैं कि यह शरीर तो हमारा साथ नहीं देगा - आज छूट जाए, कल छूट जाए ,कुछ पता नहीं । परन्तु जब तक यह शरीर है तब तक तो हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतर्क रहें। जब इस शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध टूट जायेगा तो हमारे साथ कोई नहीं जाएगा - न धन जायेगा, न संपत्ति जाएगी, न हमारी सन्तान जाएगी न सम्बन्धी

- केवल हमारी आत्मा और उसके ऊपर चढ़ाये आवरण अर्थात जो कर्म हमने किये हैं उनसे सम्बंधित संस्कार - वो ही हमारे साथ जायेंगे ।

साधना यह है कि इस मनुष्य चोले में रहते हुए हम इस आत्मा के ऊपर जितने आवरण हैं, उनसे मुक्त हो जाएँ। कहते हैं कि शरीर छोड़ने के बाद मोक्ष मिलता है । नहीं, ऐसा कुछ नहीं है । जिसको इस शरीर के रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई, शरीर छोड़ने के बाद मोक्ष का उसको स्वप्न भी नहीं लेना चाहिए । साधना तो यही है कि शरीर के रहते हुए हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लें । गुरु महाराज बता रहे हैं कि आपकी आत्मा ही सदा आपके साथ रहने वाली है । यही सच्चा सुख, शांति और सच्चा आनंद देने वाली है ।

आत्मा के ऊपर जितने आवरण हैं - शरीर का, मन का, बुद्धि या आनंद का, और इनके कारण और जितने सम्बन्ध हैं, वे सब नष्ट होने वाले हैं। अपने शरीर के रहते हुए हमें इन सब से मुक्त हो जाना चाहिए। साधना यही है। आत्मा की कोई साधना नहीं की जाती, उसकी साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। साधना शरीर,मन, और बुद्धि की शुद्धी के लिए करी जाती ह । शरीर एक रथ है। भगवान कृष्ण सारथी बनकर उसके भीतर में बैठे हुए हैं और हमारे मन और बुद्धि को चलाना चाहते हैं । परन्तु काल या शैतान भी हमारे भीतर में बैठा हुआ है जो हमारे सब प्रयासों को प्रतिक्षण असफल करता रहता है। इसलिए हमें प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए । इस सावधानी को ही साधना कह सकते हैं ।

हम इन सब तथ्यपूर्ण बातों को भूल जाते हैं । इन्द्रियों के रसों में फंस जाते हैं, बुद्धि की चतुराई में फंस जाते हैं। भांति-भांति के सांसारिक वातावरण में घिर जाते हैं । हम आत्मा को, गुरु को या परमात्मा को भूल जाते हैं। पहला साधन यह है कि हम उसे हर समय याद रखें । उसके नाम का संग नहीं छोड़ना चाहिए । सब महापुरुषों ने यही बताया है कि नाम द्वारा ईश्वर के चरणों को छोड़ें नहीं । अपनी आत्मा को या गुरु के ध्यान को छोड़ें नहीं । यह सब एक ही बात है । हमें परमात्मा के दर्शन जिस व्यक्ति के शरीर में करने हैं, उसको गुरु कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को गुरु नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति गुरु कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता । अतएव , हमें प्रतिक्षण जागरूक, गंभीर और सतर्क रहना चाहिए ।

प्रभु के नाम की महत्ता

संतों की वाणी है : ***" आंखां जीवां , बिसरे मर जावां "।*** महापुरुष प्रार्थना करते हैं कि आपकी स्मृति ही मेरा जीवन है और आपके चरणों से दूरी यानि विस्मृति ही मेरी मृत्यु है। उसकी (परमात्मा की) समीपता ही हमारा जीवन है, उसका आशीर्वाद ही हमारा जीवन है । बाकी सब कुछ तो मन - बुद्धि का विलास है। हम में से कोई भी न तो समझता है कि 'नाम' क्या है और न हम उस नाम को लेते हैं। नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है, केवल समझाने के लिए महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न तरीके से 'नाम' को समझाया है ।

नाम एक सीढ़ी है। परमात्मा से आत्मा बिछुड़ गयी है । उसको (आत्मा को) परमात्मा तक पहुंचाने के लिए जो साधन अपनाना है, उस साधन को या सीढ़ी को नाम कहते हैं । उस सीढ़ी पर चढ़कर प्रभु-चरणों में लय होने को नाम कहते हैं। इसमें तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए । साधन तो एक सीढ़ी है। कोई किसी पाये पर खड़ा है कोई किसी पर। अभी तक किसी को नाम की प्राप्ति नहीं हुई है, कोई परमात्मा के चरणों तक नहीं पहुंचा है ।

नाम की प्राप्ति हो जाने पर साधक और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाता। व्यक्ति मौन हो जाता है । यह जो मौन हम करते हैं, यह एक नक़ल है। यह एक साधन है। मौन किसका करते हैं ? शरीर मौन हो जाए , प्राण स्थिर हो जाए यानि 'कुम्भक' हो जाए। प्राण चलते हुए तो विचार आते ही रहेंगे । साधन करके प्राण स्थिर हो जायेंगे तो संकल्प-विकल्प भी धीरे-धीरे क्षीण और विलुप्त होते जायेंगे । फिर बुद्धि की चतुराई भी शांत होती जायेगी ।

इसके बाद आता है 'आनन्द' अर्थात आनन्द का आवरण। यहाँ आकर मनुष्य अहंकारी हो जाता है, अभिमानी हो जाता है कि उसने तो सब कुछ पा लिया । आध्यात्मिक आनन्द का थोड़ा सा रसास्वादन किया तो वह समझने लगता है कि मैनें सारे संसार का रहस्य जान लिया। यह भूल है, बड़ी भारी भूल है। माया मारती है तो संतों को भी मारती है । उन व्यक्तियों को मारती है जो यह कहते हैं कि मुझे बहुत ज्ञान है । इस रास्ते पर कभी भी ज्ञानी होने का घमंड नहीं करना चाहिए। एक बच्चे की तरह, एक शिशु की तरह अज्ञानी ही बने रहना

चाहिए। ऐसे साधक जिसने कहा कि वो ज्ञानी हो गए, रास्ते ही में असफल हो जाता है । उसको माया या काल नहीं छोड़ेगा ।

" कहु नानक मैं नाहीं कोई गुणा" " कहुं नानक तुम विरद पहचानो, तब हौं पतित तरो । "

अर्थात मेरे पास तो कोई गुण नहीं हैं । प्रभु आपका ही विरद है। आप ही अपना विरद पहचानो । तभी मुझ जैसे पतित का उद्धार होगा ।

हमेशा दीन भाव को अपनाना चाहिए क्योकि परमात्मा को ऐसा भक्त बहुत प्रिय है जिसका अपना रूप भी दीनता का है । जो अधिक चतुर बनते हैं, वो धोखा खाते हैं । दीन बनना है, दीन, अति दीन । यानि यह स्थिति रहने लगे कि यह शरीर भी मेरा नहीं, प्राण भी मेरे नहीं, मन भी मेरा नहीं, बुद्धि भी मेरी नहीं - तब ऐसी स्थिति में मौन सधेगा । मौन का मतलब है स्थिरता आ जाना । तब जाकर आत्मा का प्रकाश, गुरु या परमात्मा का प्रकाश, हमारे भीतर पड़ेगा । भीतर में आत्मा और परमात्मा के दोनों प्रकाश मिल जाते हैं तो वो योग या मिलन कहलाता है ।

आत्मा और परमात्मा के मिलने का यह एक सरल रास्ता है । और भी परमार्थ साधन के अनेक रास्ते हैं - जैसे कि वेदांत का रास्ता, योग का रास्ता और प्रेम भक्ति या गुरु भक्ति का रास्ता है तथा अन्य अनेक रास्ते हैं । हैं सब ठीक। किसी को गलत नहीं समझना चाहिए या गलत नहीं कहना चाहिए । जिसको जो अच्छा लगता है, जो जिस ईश्वरीय स्वरुप की भी स्तुति करता है उसको वोही रास्ता अपनाना चाहिए ।

पुराने समय में गुरुजन वेदांत और योग का सार बतलाते रहे हैं । जितनी चीज़ें नज़र आती हैं, जितना वातावरण बाहर और भीतर नज़र आता है, यह सारा नश्वर है । सब पदार्थ नष्ट होने वाले हैं । यदि कोई वस्तु रहने वाली है तो केवल आत्मा और परमात्मा । वेदांत यही कहता है। वह इसको थोड़ा दोष दृष्टि से देखता है। वो कहता है कि इस शरीर में तो मल है। इसको खोल कर देखो तो सही इसमें क्या है ? रोज़ देखते हैं कि मुंह से बलगम निकलती है, शौंच आदि के लिए जाते है , क्या निकलता है, कितनी बू आती है ? दो मिनट से ज़्यादा वहाँ बैठ नहीं पातेयह सारी गंदगी तो तेरे भीतर रहती है। तू किससे प्रेम कर रहा है

? छोड़ इस शरीर को। इस प्रकार दोष-दृष्टि से वेदांती, इस शरीर से अपने आपको अलग करता है ।

ज्ञानी अपनी सुरत को आत्मा में ले जाता है, भीतर में, और उसको विलय कर देता है। वह ज्ञान द्वारा आत्मा के स्वरुप की अनुभूति करता है । वो तरीक़ा भी सही है । प्रेमी अपने इष्टदेव से इतना प्रेम करता है कि वो अपनत्व या अपना अस्तित्व ही भूल जाता है । कबीर साहब के शब्दों में : ***" तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ ! आपा फिरका मिट गया,जत देखूं तत तू " ।***

प्रेमी तो अपने प्रीतम के प्रति अपना सब कुछ न्योछावर कर देता है। प्रेमी-भक्त का तो यज्ञ यहीं है। हम जो यज्ञ करते हैं वह स्थूल यज्ञ है, जिससे बाहरी वातावरण शुद्ध होता है। वास्तव में आध्यात्मिक यज्ञ यही है कि इस शरीर को, इस मन को, सब कुछ अपने प्रीतम के चरणों में अर्पण कर दें, उनकी आहुति दे दें । इस यज्ञ की अंतिम उपलब्धि, जो सबको अपनी अनुभूति द्वारा होती है - वो है वास्तविक ज्ञान, आत्मिक प्रकाश के स्वरुप का दर्शन या साक्षात् ब्रह्म-दर्शन, कुछ भी कह सकते हैं ।

इस परमानन्द में स्थिति पाने के लिए चाहे कोई भी रास्ता हो, मनुष्य को भीतर में सचेत रहना पड़ेगा कि यह जो कुछ भी दीखता है सब नश्वर है। मैं इसमें क्यों फंसा हूँ - और यह समझकर धीरे-धीरे इससे निकलना चाहिए । सत्संग में आने का मतलब यह है कि हमें पाश्चाताप की ऐसी चोट लगनी चाहिए कि हम रो-रोकर आत्म निरीक्षण करें कि वर्षों हो गए, हम अभी तक कीचड़ में पड़े हैं । इस संसार की माया की कीचड से हमारा पाँव निकलता क्यों नहीं ?

महापुरुषों ने संसार को कीचड कहा है जिसकी दलदल में हम सब फंसे हुए हैं । सुबह से रात तक हम जितने भी काम करते हैं, हम अपने को उस कीचड में और अधिक फंसाते जाते हैं। बड़ा कठिन है इससे निकलना । परन्तु इससे निकलने की कोशिश करते हुए बार-बार फिसल जाने में तो किसी का दोष नहीं है। हाँ, दोष उनका है जो निकलने का प्रयास ही नहीं करते, साधक को अपनी शक्ति से यथासंभव प्रयास तो निरन्तर करते रहना चाहिए ।

इस प्रयास को ही साधना कहते हैं । साधना केवल आँख बंद करने का नाम नहीं है । हमारे सारे दिन की दिनचर्या साधना रूप होनी चाहिए । वो इस संसारी कीचड से निकलने के लिए प्रयास रूप होनी चाहिए । दैनिक - चर्या ही हमारी साधना हो। तब जाकर इस प्रयास की प्रथम सफलता हमारी बुद्धि में अंकित होगी। सब लोग जानते हैं कि आत्मा है। परन्तु, हम आत्मनिरीक्षण करके देखें कि उस आत्मा को अनुभव करने का हमारा प्रयास कितना है ?

खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हमें इस मनुष्य चोले में रहते हुए ही अपने लक्ष की प्राप्ती करना है - अर्थात अपने आप को पहचानना है, ईश्वर में अपने आप को लय करना है। इसके लिए समझ के अतिरिक्त जागरूकता होनी चाहिए कि आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरुप क्या है और आत्मा का स्थान कहाँ है ?

सब साधकों को, विशेषतः सभी पुराने साधकों को, जागरूकता ही नहीं अपितु अत्यंत गंभीरता से , एक पल भी गंवाए बिना, अपने ध्येय की और बढ़ना चाहिए और पूरी लगन से संलग्न रहना चाहिए । तभी जीवन के ध्येय की ओर हमारी प्रगति होगी ।

राम सन्देश : सितम्बर-अक्टूबर , 2000

कृपा वृष्टि तो हर क्षण हो रही है, लेकिन उसे ग्रहण करने की तत्परता चाहिए

(परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी महाराज)

परमात्मा की कृपा या गुरुजनों की कृपा, जिसको हम फैज़ या प्रसादी कहते हैं, प्रति क्षण हम सब पर होती रहती है । उस कृपा को हमेशा ग्रहण करते रहना चाहिए, इसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए। जब हम बातें करते हैं, खाना खाते हैं या काम करते हैं, तब उस कृपा को ग्रहण करना भूल जाते हैं। अतएव सदा सतर्क रहना चाहिए । प्रभु की, संत जनों की, कृपा प्रसादी जो प्रति क्षण हम पर बरस रही है, उसे चाहे हम कुछ भी कर रहे हों, ग्रहण करते रहना चाहिए । इस प्रसादी में केवल आनन्द ही नहीं, इसमें ईश्वर के सारे गुण विद्यमान होते हैं । जैसे सूर्य और सूर्य की किरणों में कोई भेद नहीं होता,उसी प्रकार परमपिता परमात्मा और उसकी कृपा-प्रसादी जो हमें मिल रही है, उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है । परमात्मा का कोई रूप नहीं है । उसके रूप रंग और भेद को कोई जान नहीं पाया है । कोई कहता है कि वह सर्वव्यापक है, कोई कहता है कि वह आनन्द का सरोवर है, तो कोई उसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानता है। प्रभु के तो अनन्त रूप, स्वरुप हैं और वह अरूप भी है। उसका पूरा अनुमान लगाना तो असम्भव है । जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती है, उसी प्रकार इस फैज़ के मिलने से हमें अनुभव होता है कि परमपिता परमात्मा कितने बड़े आनन्द के भण्डार हैं ।

आप विश्वास रखिये कि आप यदि प्राकृतिक नियमों का पालन करते रहेंगे और इस फैज़ को ग्रहण करते रहेंगे तो आपको अपने जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं आयेगी - न धन की, न स्वास्थ्य की और न ही आत्मिक गुणों की । अमेरिका में आजकल बहुत चर्चा हो रही है आत्मिक साधनों से बीमारी को दूर करने की । वह ग़लत नहीं है, परन्तु कुछ लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा उपचार करने के बारे में जो लिखा जा रहा है वह ग़लत नहीं है ।

ईश्वर सब गुणों का भण्डार है। हम यदि अपने आपको पूर्णतया समर्पण कर दें तो हममें भी वे ही गुण आ जावेंगे। ईश्वर सत, चित, आनन्द स्वरुप है। यदि हम समर्पित भाव से और तत्परता से प्रयास में लग जावें तो हम भी सत्य स्वरुप हो जायेंगे, ज्ञान स्वरुप हो जायेंगे,

आनन्द स्वरुप हो जायेंगे । और यह प्रयास है - गुरुदेव द्वारा बताई गयी साधना या अभ्यास जो कि बड़ा ही सरल साधन है। शायद इसी सरलता के कारण ही लोग-बाग़ इसे महत्व नहीं देते। आज विदेशों में लोग एक-एक मिनिट की शान्ति के लिए हज़ारों ख़र्च कर रहे हैं। परन्तु यहाँ तो ईश्वर की कृपा मुफ़्त में बट रही है ।

यदि कोई व्यक्ति इस प्रसादी को अपने आप ग्रहण नहीं कर सकता है तो उससे निवेदन है कि वह किसी महापुरुष की सेवा में जाये। उनके पास जाकर कुछ न करे - शारीरिक, मानसिक किसी प्रकार का प्रयास न करे, केवल सेवा में बैठे । कुछ ही क्षण बाद उसे अनुभव होगा कि उसके भीतर एवं बाहर दोनों तरफ़ बड़ी ही शान्ति और आनन्द की लहर चल रही है । ऐसी अनुभूति के समय कइयों को तो होश ही नहीं रहता। वह कहते हैं कि आज तो इतना सरूर (नशा) आया जो पहले कभी आया ही नहीं । वह नशा नहीं है, आत्मा का गुण है - आनन्द है। उस आत्मिकता की दशा में मन स्थिर हो जाता है, बुद्धि की चंचलता ख़त्म हो जाती है, तर्क वितर्क के द्वन्द ख़त्म हो जाते हैं, स्थिरता आ जाती है । एक सरूर सा भीतर में अनुभव होता है जिसको हम आनन्द कहते हैं। यह आनन्द साधक को बहुत अच्छा लगता है ।

इस आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए निरन्तर सतर्क रहना चाहिए । जैसे चातक का मुँह हमेशा खुला रहता है कि पता नहीं कब स्वाति नक्षत्र की बूँद उसके मुँह में पड़ जाये । जब एक पक्षी इतना इन्तज़ार कर सकता है तो मनुष्य जिसको पता है कि परम पिता परमात्मा की कृपा हर वक़्त उस पर बरस रही है, क्यों न अपने ह्रदय का मुखारबिन्द खोल कर रखे ? क्यों न अपने आपका समर्पण करे ? आज तक स्वाति बूँद किसी ने देखी नहीं है, हो सकता है कि वह आत्मा का ही एक रूप हो। हमारे यहाँ का साधन है कि हमें हमेशा उस स्वाति बूँद की, उस रूहानी फ़ैज़ की प्रतीक्षा में प्रतिक्षण रहना चाहिए । हमारा मुँह खुला रहना चाहिए और उस महान उपहार को ग्रहण करने के लिए साधक को उचित है कि अपनी प्रकृति को बदले। साधक के स्वभाव में दीनता आनी चाहिए जो अहँकार त्यागने पर ही सम्भव होगी । अहंभाव के रहते हुए प्रभु कृपा या प्रभु की प्राप्ति कैसे होगी ?

जब तक मैं था हरि नाहिं , अब हरि हैं मैं नाहीं
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं

इस अहँकार का अर्थ है ' मैं ' और 'मेरापन'। इसको छोड़ दें । अहँकार का त्याग करके दीनता को अपनायें। दीनता का अर्थ यह नहीं कि अपना काम निकालने के लिए हम कुछ समय के लिए मीठे शब्दों और मधुर व्यवहार का प्रयोग करें। दीनता का मतलब है कि अपना कुछ रहे ही नहीं। यहाँ तक कि साधना में साधक को अपना भान ही न रहे, केवल परमपिता परमात्मा ही हो। ध्यान-अवस्था में ध्यान करने वाला रहे ही नहीं ।

दीनता का एक और अर्थ यह है कि ***" जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिये "*** भगवान ने गीता में भी यही कहा है । कबीरदास जी और अन्य संत महापुरुषों ने भी यही कहा है कि अपनी इच्छा कुछ नहीं है, अपनी आशा-अभिलाषा कुछ नहीं है, गुरु या ईश्वर जिधर ले जाये वही ठीक है, हमारे हित में है। फिर वह चाहे जिन परिस्थितियों में हमें रखे - चाहे वे परिस्थितियाँ सुखदायी हों या दुखदायी। जिज्ञासु के ह्रदय में संतोष हो। भगवान कृष्ण भी यही कहते हैं - 'मेरा वही भक्त मुझे अति प्रिय है जो संतुष्ट रहता है । जो किसी भी परिस्थिति में - दुःख में, सुख में, सम रहता है और हमेशा हर हॉल में प्रसन्न रहता है ।'

" मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तेरा
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मेरा "

ईश्वर से या गुरु से सम्बन्ध पति-पत्नी जैसा सम्बन्ध है । हम राधा जी से प्रेरणा लेते हैं । राधा जी भगवान कृष्ण की विवाहिता स्त्री नहीं थीं। हमारे देश के लिए यह गर्व की बात है कि प्रत्येक स्त्री अपने पति की राधिका बनना चाहती है, भगवान विष्णु की लक्ष्मी बनना चाहती है। इसी तरह जिज्ञासु भी जिसमें ईश्वर प्राप्ति की आकांक्षा रहती है उसको भी गोपियों से प्रेरणा लेनी चाहिए । भक्ति का सर्वोत्तम भाव महापुरुषों ने कान्ता भाव को बताया है। मथुरा की प्रत्येक गोपी के ह्रदय में यही भावना उठ रही है कि वह भी राधिका जी बन जाये और भगवान कृष्ण की समीपता का लाभ उठाये। भक्त भी यही चाहता है । मथुरा, बृन्दावन में अभी भी कुछ ऐसे लोग हैं जो स्त्रियों के रूप में रहते हैं और बातचीत भी स्त्रियों जैसी करते हैं और इसी रूप में भगवान को याद करते रहते हैं। उनका यह पहनावा, उनकी यह भगवान के प्रति श्रद्धा और सतत स्मृति हमें प्रेरणा देती है कि " कान्ता - भाव ' की भक्ति अपनाकर भगवान के चरणों में कैसे पहुँचा जा सकता है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें प्रेम मार्ग अपनाना पड़ेगा। हमारे देश की परम्परा में साधारण स्त्री अपना तन-मन-धन सब कुछ अपने पति के

लिए न्यौछावर कर देती है। उसमें प्रेम, दीनता, सहयोग, सहनशीलता और त्याग व बलिदान जैसे गुण भरे हैं जो हमें प्रेरणा देते हैं। ईश्वर की प्राप्ति के लिए जिनके मन में अभिलाषा है उनके हृदय में ऐसे गुण होना आवश्यक है। जिज्ञासु साधन में जब तक स्त्री जैसी लचक और लोच नहीं आएगी, वह ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बन पायेगा ।

प्रभु को प्रिय इन सद्‌गुणों को अपनाने (और साथ-साथ अपने दोषों-अवगुणों को छोड़ते जाने) के लिए गुरुजन बताते हैं कि जिज्ञासु स्वयं अपनी स्थिति को परखे - स्व-निरीक्षण करे । हमारे एक बुज़ुर्ग थे जो कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को एक डायरी रखनी चाहिए और उसमें अपनी दिनचर्या लिखनी चाहिए कि आज क्या किया, क्या नेकी या क्या बुराई की । वैसे तो गुण -दोष दोनों ही प्रभु के चरणों में अर्पण कर देने चाहिए परन्तु अपनी बुराइयों का स्व-निरीक्षण करना चाहिए और दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि दूसरे दिन वह बुराइयाँ न हों । फिर धीरे-धीरे अपने आचरण का सुधार करते हुए बुराइयों को छोड़ते चले जायें एवं सद्‌गुणों को अपनाते चले जायें ताकि हम परमात्मा की कृपा के, गोपियों के समान भगवान कृष्ण की चरण-रज के अधिकारी बन सकें ।

गुरु की प्रसन्नता में हमारा सब कुछ है । उनको प्रसन्न करने के लिए एक ही सरल साधन है और वह है सेवा। सेवा क्या है - गुरु के परामर्श एवं उनके आदेशों का पालन करना । सेवा, निष्काम भाव से की गयी सेवा तो ईश्वर भक्ति के लिए, उसकी समीपता प्राप्त करने के लिए एक महान साधन है। सेवा से ही दीनता आती है, सेवा से प्रेम मिलता है, सेवा से ज्ञान मिलता है, और सेवा से ही आनन्द लाभ होता है ।

संक्षेप में, ईश्वरीय कृपा (फ़ैज़ या अमृत प्रसादी) की वर्षा तो होती ही रहती है जिसको प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु साधकों को सदा तत्पर रहना होगा । अपने गुरु, अपने इष्टदेव की सेवा में जाने से उस अमृत धारा के आनन्द की अनुभूति स्वतः होने लगेगी । धीरे-धीरे उनकी सत्संगति के प्रभाव तथा उपदेशों का पालन व्यावहारिक रूप में करते जाने से निरन्तर आत्मिक प्रगति होती जायेगी । कमी है तो अपनी लगन और तत्परता की ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें । राम सन्देश : अक्टूबर-सितम्बर, २०१५

गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ?

श्रीमदभागवत गीता में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना महा कठिन है। अतः भगवान के किसी न किसी रूप को इष्ट मानकर सगुण की भक्ति और उपासना करनी चाहिये । यदि भक्ति सच्ची है, तो भगवान के जिस रूप का ध्यान किया जायेगा, उसी रूप में उनके दर्शन होंगें। भक्ति के लिए मन निर्मल होना चाहिये । किन्तु मन में दो बड़े दोष हैं , एक है 'विक्षेप ' और दूसरा 'मल' । विक्षेप कहते हैं चंचल या अस्थिर स्वभाव को और मल का अर्थ है मलीनता। जब मन निर्मल हो जाता है, तब ईश्वर कृपा करके हमें किसी रहबर या पथ -प्रदर्शक के पास भेज देता है, जिसे हम गुरु या सदगुरु कहते हैं । वास्तव में गुरु और कुछ नहीं नर रूप में नारायण हैं । जिज्ञासु के लिये गुरु की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि मोक्ष देने का अधिकार केवल गुरु को ही है। मन का अन्धकार और अज्ञान बिना गुरु के दूर नहीं होता । यह गुरु ही हैं जो मनुष्य को आत्मा और परमात्मा का परिचय कराते हैं। जब हम उनकी शरण में शुद्ध हृदय और निर्मल मन से जाते हैं तो वे जो कुछ भी उपदेश हमें देते हैं उसकी छाप हमारे मन पर ऐसी गहरी पड़ती है कि वह धीरे - धीरे हमारे अहंकार को समाप्त कर देती है और हमें आत्मसाक्षात्कार करा देती है । किन्तु बिना गुरु की कृपा के कुछ नहीं होता ।

गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ? इससे पहले कि हम किसी सन्त के साथ सम्पर्क स्थापित करें, यह जान लेना आवश्यक है कि सन्त किसको कहते हैं और उसमें कौन - कौन से गुण होने चाहिय । संत वह है जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, जो समदर्शी है और जो परमात्मा को हर जगह और हर वस्तु में देखता है। उसके हृदय में प्रेम रूपी गंगा की पवित्र निर्मल धारा लगातार हर समय बहा करती है। वह प्रेम स्वरूप होता है, दया और क्षमा का सागर होता है और शान्ति का अनुपम भण्डार होता है। जहाँ -जहाँ उसका गमन - आगमन तथा स्थिति होती है वहाँ सदा शांति ही शांति विराजती है। उसके पास बैठने वालों को, चाहें वे निपट संसारी हों, उनको भी उस शांति का कुछ न कुछ आभास अवश्य होता है। सन्त की जितनी प्रशंसा की जाय वह भी थोड़ी है। जितने ईश्वरीय गुण हैं वे सब सन्त में मौज़ूद होते हैं ।

केवल ऐसे ही सन्तों के सम्पर्क में आने से और उनकी शरण ग्रहण करने से आत्मा अज्ञान और मायाजाल से छूट सकती है। जब हम किसी सन्त के पास जायें तो हमें धूल के समान अत्यन्त नम्र बन कर जाना चाहिये बिना नम्र बने, बिना दीनता के, कभी भी सन्तों की कृपा का लाभ मिलना सम्भव नहीं है। दीन बनेंगे तभी उनकी कृपा की गंगा में स्नान कर सकेंगे। प्रत्येक दशा में, हर समय, हमें उनकी आज्ञा पालन के लिये तत्पर रहना चाहिये। उनके सत्संग के प्रभाव से धीरे -धीरे हमारा अहंकार टूट कर गिर जायेगा और हम अपनी पाशविक तथा निचली वासनाओं से छुटकारा पा जाएँगे। जब भी सन्तों के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हो, उसका अधिकतम लाभ उठाओ, अहंकार के मल को धो डालो, अपने आप को निर्मल बना लो और अपनी आत्मा को स्वतंत्र बना कर आँतरिक शांति प्राप्त करने का प्रयास करो। यदि हम दीन बने रहें तो गुरु अपनी कृपा की धार से हमें ईश्वर की ओर खेंचते हैं और किसी न किसी दिन हमारे जीवन को अपने आध्यात्मिक स्तर पर ले आते हैं। गुरु की संगत का प्रभाव ही निराला है। वे मनुष्य को स्वयं आप समान बना लेते हैं। बहुत से लोग संतों के पास जाते हैं और कुछ उनकी संगत में बहुत दिनों तक रहते भी हैं , परन्तु उन्हें कुछ आत्मिक लाभ नहीं होता। इसका कारण यह है कि अधिकतर लोग अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये नहीं जाते। वे जाते हैं संसार और उसके भोग विलास की चीज़ें मांगने के लिय , अपने दुनियावी स्वार्थ को पूरे करने के लिए। सन्त तो दुनियाँ उजाड़ते हैं, उनके पास परमार्थ बटता है, दुनियाँ थोड़े ही मिलती है। और जो लोग वास्तव में अपने परमार्थी हित की कामना लेकर जाते हैं, वे उसका लाभ उठाते हैं। कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जाते तो हैं परमार्थ लाभ के लिए किन्तु उनके पास जाकर उनकी दया का अनुचित लाभ उठाते हैं।। परमार्थ लाभ करना तो एक तरफ़ रहा, आपस में एक दूसरे से वैमनस्य रखने लगते हैं और अशान्ति पैदा कर देते हैं। ये निचली वासनायें हैं। सन्त की सोहबत में रहने का आशय तो यह है कि पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठो, अपनी सांसारिक इच्छाओं को वश में करो और अपने मन को मार । यदि ऐसा न करोगे और अपनी कमज़ोरियों का शिकार बने रहोगे तो सन्तों के सत्संग का क्या लाभ होगा ? जीवन निरर्थक हो जायेगा ।

जितने समय हम संत की सौहबत में रहें उसका श्रेठ उपयोग यही है कि पहले हम अपनी कमज़ोरियों को दूर करें, आपस में सब भाई एक दूसरे को प्रेम करें, अपने मन को सम अवस्था

पर लाने का अभ्यास करें और शांति की खोज करें कहते तो हम अपने आप को 'शिष्य' हैं किन्तु देखा जाय तो हम शिष्य नहीं, हम उनके गुरु बनते हैं। प्रभु ईसा के जीवन की बात है । उनके शिष्य आपस में झगड़ते थे कि उनमें से कौन सबसे बड़ा है। इसका समाधान प्रभु ईसा ने स्वयं इस प्रकार किया -- " तुम में से जो कोई भी शेष लोगों का सेवक है, वही तुम में सबसे बड़ा है ।" यदि शिष्य एक दूसरे के ऊपर हावी होने के लिए आपस में लड़ते हैं तो वे गुरु के ऊपर घोर आघात करते हैं । भला इससे भी बड़ा कष्ट वे गुरु को और क्या दे सकते हैं ?

गुरु आदर्श हैं सन्तुलन और शांति । गुरु के बिना मनुष्य का मोक्ष सम्भव नहीं । राम और कृष्ण जैसे महान अवतारों ने भी गुरु धारण किये थे । अतः हमारे मोक्ष के लिए भी गुरु कृपा की आवश्यकता है। जब - जब गुरु के सत्संग में जाओ, अपने नुक्सों पर दृष्टि रखो और उन्हें दूर करने का प्रयास कर । दूसरों के दोषों को मत देखो ऑर व्यर्थ अपवाद मत करो । अपने सम्पूर्ण हृदय से गुरु को और उनके आदर्श अपने सामने रख कर सर्वभूतों को समदृष्टि से प्रेम करो ।

गुरु का हृदय बहुत कोमल होता है । उनकी सदा यहीं तीव्र इच्छा रहती है कि जिन्होने उनका सहरा लिया है , जो उनकी शरणागत हुआ है, चाहें वह एक हो या बहुत से, सभी का कल्याण हो, सभी को सुःख - शांति की प्राप्ती हो। अपनी ढ़ेर सारी कृपा गुरु सदा अपने भक्तों पर उड़ेलते रहते हैं। सदा इस बात का मार्ग - प्रदर्शन करते रहते हैं कि परमात्मा का आन्तरिक और वाह्य दर्शन प्राप्त करने के लिये कैसा आचरण और क्या अभ्यास करना चहिय । हमें उनकी शिक्षा और उपदेश को व्यवहारिक रूप देना चाहिये । गुरु की कृपा हमारे हृदय में तभी प्रवाहित होगी जब हम उनकी आज्ञा मानेंगे और उनके उपदेशों पर अमल करेंगे। इससे वे प्रसन्न होंगें । किन्तु आजकल कुछ और ही दृष्टिगोचर होता है । जहाँ संत -सदगुरु के एक क्षण के सत्संग से हमारे अन्दर महान गुण आ जाने चाहिये थे , वहाँ हमारे अन्दर उनकी एक किनकी मात्र भी पैदा नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि न तो हम उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और न उनके उपदेशों को चित्त देकर सुनते हैं, उन पर अमल करना तो दूर रहा। इसलिए हमारा पहला कर्तव्य यह है कि हम बिना चूँ -चरा किए गुरु जो कुछ आज्ञा दें , उसका तन -मन से पालन करें। ऐसा करने से मन का मल छूटने लगेगा, घट का दर्पण उजला होने लगेगा जिसमें प्रीतम का मुखड़ा झलकेगा और हमें अमर जीवन और अमिट शांति प्राप्त

हो सकेगी। गुरु अत्यन्त कृपा करके शिष्य को जो मन्त्र या उपदेश देते हैं उस मन्त्र या उपदेश को सदा अपने मन और आत्मा से रटने या अभ्यास करने की आदत डालनी चहिये। शिष्य का ऐसा व्यवहार गुरु की आज्ञा का पालन होगा और उसके जीवन में ईश्वरीय ज्योति, ज्ञान और आनन्द का संचार होगा। यही वह सच्चा नाता है जो शिष्य और गुरु के बीच होना चहिये। यदि ऐसा व्यवहार नहीं है तो सन्त -सदगुरु को चारों तरफ़ से घेर कर सिवाय उन्हें दुःख देने के और कोई भली बात नहीं होगी ।

राम संदेश : सितंबर १९६६

गुरु के प्रति विश्वास

एक महात्मा से किसी ने सवाल किया कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास कैसे हो ? उन्होंने उत्तर दिया -- केवल गुरु कृपा से ऐसा हो सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है । ईश्वर स्वयं ही गुरु रूप में हमारे हृदय में अपने प्रति पूर्ण विश्वास पैदा कर सकता है । हमारे अपने किये से यह सम्भव नहीं । हम वल इतना कर सकते हैं कि गुरु की सेवा में जायें और अपने दिल के दरवाज़े को खोल कर उसके सामने रख दें जिससे उनकी कृपा का प्रकाश उसमें भर जाय और अन्धकार दूर हो जाय । तब हमारे मन में श्रद्धा और विश्वास जागेगा अन्यथा नहीं । इससे पहले हमारे मन में सैंकड़ों शंकाएँ भरी होती हैं और ईश्वर के प्रति नाम मात्र का जो विश्वास होता है वह ढिलमिल होता है । आता है और चला जाता है । पूर्ण रूप से तो वह केवल गुरु कृपा द्वारा ही आता है ।

अगर गुरु की कृपा चाहते हो तो उनके पास खुले दिल से नम्रता पूर्वक जाओ , कोई सवाल तुम्हारे मन में न हो , कोई शंका न हो । शाँत होकर उनके चरणों में बैठ जाओ । उनकी कृपा तुम्हारे ऊपर होने लगेगीं और तुम्हारा हृदय ईश्वर के नाम की शक्ति से भरपूर हो जायेगा । नाम के साथ नामी की शक्ति होती है । इसलिये ईश्वर के नाम का उच्चारण करो , उसी के नाम का पूरे विश्वास के साथ सहारा पकड़ो , ऐसा विश्वास हो जो अड़िग हो और तुम देखोगे कि उसकी कृपा तुम्हारे बाहर और अन्दर छाई हुई है ।

विश्वास एक अदभुत वस्तु है । सैंकड़ों उदाहरण आपको ऐसे मिलेंगे कि किसी चीज़ पर पूर्ण विश्वास लाने से लोगों के जीवन पलट गये । अपने मन में शंका को स्थान मत दो । शंका तुम्हारी दुश्मन है । ***स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे - " अपने हृदय में शंका रखने से तो अच्छा है कि उसमें खंजर रखो ।"*** निशंक , अडिग और अविचल विश्वास होना चाहिये । ईश्वर तो निराकार है । उसे जो जिस रूप में भजता है , उसे वह उसी रूप में दर्शन देता है । आवश्यकता है श्रद्धा , विश्वास और भाव की । गीता में भगवान ने कहा है " जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं , उन्हें मैं उसी रूप से मिलता हूँ । " किसी ने एक महात्मा से प्रश्न किया कि यदि गुरु धारण करने के बाद गुरु का शरीरान्त हो जाये तो क्या उसका गुरु से पहले जैसा सम्बन्ध बना रहता है , या उसे दूसरा गुरु धारण करना चाहिये ।

महात्मा ने उत्तर दिया -- गुरु कोई जिस्मानी शक्ल नहीं है । असली गुरु तो हक़ीक़त है जो कभी नहीं मिटती , वही परमात्मा , परमेश्वर , सच्चिदानंद आदि नामों से पुकारा जाता है । वह जिस मनुष्य शरीर में हमारे सामने होता है भूल से हम उस शरीर को गुरु समझ बैठते हैं । गुरु तो केवल एक ही है और वह अनेक शरीर धारण करता है । गुरु और ईश्वर एक है । उससे अपना आत्मिक सम्बन्ध पैदा करो । इसी को सूफ़ियों में निस्बत क़ायम करना कहते हैं । जब ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है , तुम अपने को आज़ाद महसूस करने लगते हो । उसकी मूर्ति सदा तुम्हारे हृदय में विराजती है और उसके प्रकाश से तुम्हारा हृदय उजाले से भर जाता है । गुरु की बाहरी शक़्ल उस हक़ीक़त की मुजस्सिम शक़्ल है जो तुम्हारे अन्दर है । उस बाहर के दीखने वाले ज्ञान के जागृत दीपक से अन्दर का बुझा हुआ दीपक जलाओ तभी तुम अनुभव करोगे कि गुरु और ईश्वर एक है और तभी तुम अपने को उनके साथ एक होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकोगे । जब इस तरह गुरु को धारण कर लोगे तो गुरु तुम्हारा हाथ पकड़ लेंगे । गुरु का पकड़ा हुआ हाथ कभी छूटता नहीं । शिष्य भले ही बगावत करे और एक बार को अलहदा भी हो जाय , लेकिन यह चंद रोज़ा (कुछ ही दिनों के लिये) है । गुरु कभी नहीं छोड़ता । उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि शिष्य भवसागर से पार हो जाय ।

गुरु का शरीर छूट जाने पर तुम किसी जिन्दा गुरु से मदद लेते हो तो यह ख़्याल करो कि वह गुरु का दूसरा रूप है । ख़्याल रहे कि जिस गुरु ने तुम्हें सबसे पहले नाम दिया वही तुम्हें अज्ञान और जीवन -मरण के चक्र से अज़ादी दिलायेगा और उसी के ध्यान से सच्चिदानंद की प्राप्ती होगी ।

सूफ़ियों (हमारे यहाँ भी) में गुरु के परदा कर जाने के बाद उसके गुरुमुख शिष्य को उसका दूसरा रूप मानकर रुहानी मदद लेते हैं । इस मत में वंश के महापुरुषों की दया का सहारा हमेशा लेते हैं । चूँकि ऊपर से सम्बन्ध जुड़ा हुआ होता है , जैसे ज़ंज़ीर की कड़ियाँ एक दूसरे में पिरोई हुईं होतीं हैं , इसलिए मदद हमेशा तैय्यार खड़ी रहती है , सिर्फ मुँह खोलने की ज़रूरत है । अपने सिलसिले के बुज़ुरगों की उनसियत भी औरों से ज़्यादा होती है । भला गैर किसी को क्या पड़ी जो आपकी मदद करे ।

परमात्मा की दयालुता

(Paramsant Drl Kartarsinghji Maharaj)

ईश्वर की कृपा तथा अपने सँस्कार वश ही मनुष्य सत्संग में प्रवेश करता है । सत्संग में आकर बहुत से भाई यह चाहते हैं कि परमात्मा (श्री गुरुदेव) क्यों नहीँ अपनी कृपा शक्ति द्वारा हम लोगों का शीघ्र उद्धार कर देते ? मन और माया के बन्धन से आत्मा को शीघ्र क्यों नहीं निकाल देते ? यह एक समान्य प्रश्न है जो अक्सर सत्संगी भाईयों के हृदय में उठा करता है । सत्संग में प्रवेश करने पर जीव के हृदय में जगत और परमात्मा के बीच अन्तर्द्वन्द होने लगता है । जन्मोजन्म से वह जगत के बन्धनों , माया - मोह के जालों में फँसा है । सत्संग में आने के बाद प्रभु - प्रेम का आस्वादन उसे अच्छा लगने लगता है , किन्तु जगत के आकर्षण शीघ्र अपना प्रभाव नहीं छोड़ते । इस बीच की स्थिति में उसका हृदय मंथन करता रहता है । धर्म और अधर्म , प्रेम और मोह , सत और असत का राम - रावण युद्ध निरन्तर चलता रहता है । सत्संगी अपने व्यवहार के प्रति जागरूक रहता है , किन्तु पुराने संस्कार एवं माया - मोह के आकर्षण उसे अपनी ओर भरपूर खींचते रहते हैं । उसे मालूम होता है कि अमुक जगह वह अधर्म और असत व्यवहार में फँस गया है । ऐसी दशा में वह चाहता है कि क्यों नहीं परमात्मा रूप श्री गुरुदेव हमारी सम्भाल कर लेते हैं और हमेशा - हमेशा के लिए हमें इस भव - बंधन तथा माया मोह से मुक्त कर देते ?

बहुत से लोग जो सत्संगी नहीं हैं , दुनियादार हैं , वे भी ऐसी ही बातें करते हैं कि जब परमात्मा चाहेगा हमसे दुनियाँ छुड़ा देगा । मुझे अपनी ओर से इसकी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये । ऐसे लोगों का अहं बहुत ही पुष्ट होता है । माया - मोह का आकर्षण इन्हें कसकर घेरे रहता है । संतों की बातें उनके लिए बंजर भूमि में बीज डालने के समान है । फिर भी ईश्वर कृपा से उनके भी कभी न कभी शुभ संस्कार उत्पन्न होंगें । ऐसे सज्जनों और सतसंगी भाइयों के लिए यह बता देना आवश्यक है कि परमात्मा परम दयालु है । दयालुता का अर्थ है कि जिससे जीव का सबसे उत्तम लाभ हो , सबसे अधिक कल्याण हो , वही परमात्मा दया वश उसके लिये करते हैं । वैसे परमात्मा तो सर्वशक्तिमान हैं ही और वह जब चाहें आत्मा को क्षण भर में मन और माया के जाल से मुक्त करा सकते हैं । लेकिन जीव इसे बर्दाश्त नहीं कर सकेगा । जब तक मन सतदेश का वासी नहीं होगा अर्थात सतोगुणी नहीं होगा , तब तक आत्मा को उससे ज़बरदस्ती हटाने में तन और मन व्याकुल हो उठेंगें और उस पीड़ा को जीव कभी भी बर्दाश्त नहीं कर सकेगा । इसलिए परमात्मा की यह असीम दयालुता है की वह किसी के साथ ज़ोर ज़ुल्म नहीं करता । अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करता । आत्मा को ज़बरदस्ती

ऊपर खींचने में जीव बेहोश हो जायेगा या उसे भारी बीमारी लग जायेगी । ऊँचे घाट का हल्का सा रस पाकर मन उसी में मस्त हो जावेगा और उसी मस्ती में पड़ा रहेगा । ऊपर का कार्य परमात्मा रूप है । इस स्थिति मंह मन पूर्णतः शाँत होकर आत्मा के आधीन हो जाता है । मन की यह दशा आत्मा को ज़बरदस्ती ऊपर खींचने से कदापि नहीं हो सकती । इसके अलावा परमात्मा का यह अटल नियम है कि जीव को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा । यदि ऐसा विधान नहीं होता तो पाप - पुण्य की परख ही नहीं रह जाती । जीव को बुरे कर्मों से रोकने का कोई साधन ही नहीरह जाता । बुरे कर्मों द्वारा जीव का स्वप्न में भी उद्धार नहीं हो सकता था । वह और नीचे ही गिरता जाता है इसलिए ईश्वर - कृपा से यदि कोई सत्संग में प्रवेश करता है तो उसके पिछले बुरे संस्कार भी साथ रहते हैं । इसी कारण वह जाने - अनजाने नीचे की ओर गिरता रहता है । संत सतगुरु की शरण पकड़ने पर उसके पिछले संस्कारों के वेग में कमी आजाती है तथा उन्हीं की दया से उन संस्कारों के भोगने में उसे आसानी हो जाती है । अतः सच्चे भाव से संत -सदगुरु की शरण लेनी चाहिये । उन्हीं की कृपा से बुरे संस्कारों के फल आसानी से भोगे जा सकते हैं । और भविष्य में चढ़ना साधकों के लिए स्वाभाविक है । इससे उन्हें घबराना नहीं चाहिये । जो गिरता नहीं है वह ऊपर चढ़ने की सोचता कहाँ है ? लेकिन हर हालत में उसे श्री गुरुदेव में अपनी श्रद्धा अधिक मज़बूत करते जाना चाहिये और भविष्य के लिए बुरे कर्मों पर सच्चे दिल से पश्चात्ताप करना चाहिये तथा मन ही मन उन दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने श्री गुरुदेव से प्रार्थना करते रहना चाहिये । संत सदगुरु परमात्मा रूप होते हैं । वे जीव के अधिकार के अनुसार उसकी आत्मा को विषयों से खींचते हैं । सुरत के साथ यदि मन को भी नहीं खींचा गया या उसे जगत के विषयों से उपराम नहीं कर लिया गया तो केवल आत्मा के खिंचने से वह पुनः शीघ्र ही नीचे गिर जायेगी । इसलिए परमात्मा या सतगुरु शीघ्रता नहीं करते हैं । परमात्मा का काम मारना नहीं , जिलाना है । काल मारता है , परमात्मा जिलाते हैं । शरीर के नाश होने पर आत्मा के साथ मन मिला रहता है । मन जब तक अपनी इच्छाओं को नहीं भोग लेता तब तक वह आत्मा को नहीं छोड़ता । इच्छाओं को भोगने के लिए मनुष्य जीवन ही एकमात्र साधन है जिसे परमात्मा कृपा करके हमें प्रदान करते हैं । काल इसे पसन्द नहीं करता । इसलिए वह मृत्यु के द्वारा जीव को मारता रहता है जिससे जीव अपनी समस्त इच्छाओं को भोग कर काल के चंगुल से हमेशा - हमेशा के लिये निकल जावे । अतः जीव का यह धर्म है कि वह सत्संग में आकर इच्छाओं से उपराम हो जाये । संत भी मन को मारने की बात बतलाते हैं , किन्तु उनका मारना काल की मौत से भिन्न है । संतो के मारने का मतलब यह है कि तन और मन से आसक्ति समाप्त हो जाये जिससे आत्मा स्वतः असली रूप का परिचय प्राप्त कर ले । इस प्रकार की शिक्षा दी जाती

है कि वह इस शरीर में रहते हुए इससे अलग हो जाये । इसके अलावा मन जिन - जिन वासनाओं में लिप्त है उनकी असारता का अनुभव कर ले और उनसे उपराम हो जाये । जगत तथा जगत की वस्तुओं की असारता के स्वयँ अनुभव कर लेने पर वह पुनः उनमें न फंसेगा तथा उनसे उपरति ग्रहण कर लेगा । इस प्रकार वह अपने कर्मों के फल से वंचित हो जायेगा । जब उसकी यह दशा हो जायेगी तब वह आत्मा को जगत के भोग के लिए नहीं खींचेगा। इसके विपरीत वह शाँत हो जायेगा और ऊपर के अभ्यास में जहाँ तक उसकी पहुँच है उस सीमा तक आत्मा का साथ देगा । यही परमात्मा द्वारा तन और मन का मारना है । फिर आत्मा स्वतः अपने आनंद का अनुभव करने लगेगी और उसे प्रभु -प्रेम का पान कराते रहते हैं । इसलिए परमार्थ शीघ्रता का कार्य नहीं है । इसमें जल्दबाजी नहीं की जा सकती । परमात्मा का यहीं वरदान है कि वह जीव को अधिकार भेद एवं संस्कार अनुसार परमात्मा प्राप्ति का अवसर देते हैं । इसी में जीव का सच्चा उद्धार है । यही परमात्मा की दयालुता है ।

राम संदेश : मार्च - अप्रैल ,२००३

प्रभु के स्थितप्रज्ञ ज्ञानी या भक्त के प्रिय गुणों में एक विशेष गुण है : क्षमा

(ब्रह्मलीन सदगुरु डॉ. करतारसिंह जी महाराज)

परमार्थ के कई रूप हैं । महापुरुषों ने परमार्थ विद्या के लक्ष्य, परमात्मा के गुणों और अस्तित्व को भिन्न -भिन्न तरीक़ों से वर्णन किया है । प्रत्येक व्यक्ति के अपने - अपने संस्कार होते हैं । उन संस्कारों के अनुसार वह भक्ति साधना द्वारा ईश्वर के ओर बढ़ता है। उसका तरीका पृथक -पृथक होता है । इसीलिये गीता में भगवान कृष्ण ने सबसे पहले ज्ञान शिक्षा दी है ।

अर्जुन विद्वान था, शास्त्रज्ञ था, परन्तु ब्रह्मज्ञानी नहीं था । इसलिए जब ज्ञान (सांख्य दर्शन) की बात उसे बताई गयी तो वह भगवान से पूँछता कि "स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसा होता है, वह रहता कैसे है, उसका व्यबहार कैसा होता है ? इस पर भगवान ने एकरसता का वर्णन किया हैं । अर्जुन फिर पूँछता है कि एकता में रहकर अर्थात ईश्वर से तदरूप हुआ उच्च कोटि का ज्ञानी संसार के साथ काम कैसे करता है ? अर्जुन के पास चुनौती थी । सामने कुरुक्षेत्र का मैदान था । लाखों आदमी एक दूसरे का बध करने के लिये खड़े थे । वह उनको देख कर यही सोचता है कि ज्ञानी पुरुष कैसे काम करता होगा ? वह युद्ध कैसे लड़ता होगा, आदि , आदि । भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि वह व्यक्ति सब परिस्थितिओं में सम - अवस्था में रहता है । दुःख आ जाये तो विक्षिप्त नहीं होता, सुःख आ जाये तो ज़्यादा फैलता -फूलता नहीं । वह एकरस रहता है । सर्दी - गर्मी, हानि - लाभ उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं लाता । परन्तु केवल शब्दों के सुन लेने से कुछ नहीं होता ।

अर्जुन प्रश्न किए जा रहे हैं और भगवान इतने दयालु हैं कि वे उत्तर दिए जा रहे हैं । उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति के लिए कई साधन बताये । पहले ज्ञान बताया फिर दूसरे अध्याय में सांख्य बताया है। फिर, तीसरे , चौथे और पाँचवे अध्याय में कर्म की व्याख्या को विस्तार से बताया गया है।

मुख्य रूप से हमारे शास्त्रों में विशेष साधन हैं -- एक ज्ञान का, दूसरा कर्म का और तीसरा भक्ति का । धर्मानुसार समाज के हित के लिये निस्वार्थ होकर कर्म करें परन्तु जो भी

उसका भला -बुरा फल हो उससे विक्षिप्त न हों। और न ही यदि फल आशानुसार हो जाए, तो उसमें अहँकार आना चाहिये। हाँ, यह बहुत कठिन है । कोई व्यक्ति बिना यह सोचे हुए कि इसका फल क्या होगा, कोई काम नहीं करता है। वह हमेशा ख़्याल रखता है कि जो भी काम मैं करूँ उसका फल मेरी आशा के अनुकूल हो ।

शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति या तो ज्ञान पथ को अपनाले या कर्म को या भक्ति को। तीनों में से अगर कोई भी पथ नहीं अपनाता तो उसे "मनुष्य रूपेण मृग चरन्ति " (मनुष्य रूप में पशु) कहा है । वास्तविकता यही है । जितनी भी साधनायें हैं -- ज्ञान की, कर्म की, भक्ति या सन्यास योग की, सबका सार यहीं सिद्ध करता है कि साधक साधना करते - करते उस आयाम में पहुँचता है जहाँ वह अनुभव करता है कि वह और परमात्मा एक हैं, एक ही शक्ति या सत्ता के विविध स्वरूप हैं ।

इसी को सत कहते हैं, सतनाम सत है । यहाँ प्रभु की बड़ी सुन्दर लीला की बात आती है कि भगवान स्वयँ ही रसिया हैं , स्वयँ ही रस हैं और स्वयँ ही रसोपान करते हैं - यानी रस लेते हैं । यह बात प्रत्येक व्यक्ति की समझ में नहीं आती कि भगवान स्वयँ ही रस हैं और रसास्वादन भी स्वयं ही करते हैं । आप ही कर्ता और आप ही भर्ता हैं । यानी कर्म करने वाले भी आप हैं, जो कर्म किया गया वह भी आप हैं और जिस पर क्रिया की जाती है वह भी अप ही हैं ।

यह स्थिति साधना करते - करते जब व्यक्ति सुषुप्ति में पहुँचता है तब होती है । जैसे प्रगाढ़ निद्रा में रोज़ ही आपको अनुभव होता है कि गहरी नींद में बड़ा आनन्द आया। इसी प्रकार व्यक्ति साधना करते -करते निर्विचार हो जाता है। वह उस स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ एकता है। परन्तु यदि इस सुषुप्ति की अवस्था में गुण नहीं है, तो यह जड़ता है। मूर्ख व्यक्ति भी सुखी रहता है और ज्ञानी भी सुखी रहता है । बीच के लोग, ख़ासकर राजसी वृत्ति वाले, दुःखी और अशान्त रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हमारा मन नहीं लगता, मन स्थिर नहीं रहता, इतने साल हो गये अशान्ति बनी हुई है, शान्ति नहीं मिलती । इसके दो कारण हैं कि उसने न तो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है और न ही उसने कर्म या सच्ची भक्ति की साधना की है ।

जिसको ज्ञान की प्राप्ति हुई है तो वहाँ तो एकता है -- एकरसता है । जहाँ दो होंगे, राग द्वेष स्वाभाविक है । जब तक दोंनो ज्ञानी न हों , अशान्ति स्वाभाविक है। हम देखते हैं कि परिवार में स्त्री - पुरुष , भाई -भाई , माता - पिता , बच्चे, छोटी -छोटी बातों पर झगड़ते हैं। उनमें एकता नहीँ रह पाती, एक दूसरे के प्रति राग - द्वेष की भावना रखते हैं ।

भगवान ने तो प्रेम -भाव की प्रतीक एकता दी है। आत्मा और आनन्द का स्रोत प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है । परन्तु वह अहँकार के कारण उस स्रोत तक नहीं पहुँच पाता । इसलिए गुरु महाराज कहते हैं कि जहाँ पर अहँकार है वहाँ न तो ईश्वर का प्रेम मिल सकता है और न संसार के सुःख मिल सकते हैं और न सच्चा नाम मिल सकता है। गुरु महाराज ने यह स्थिति सुहागन जैसी बतलाई है जहाँ साधक और सिद्ध , परमात्मा और गुरु दोनों एक हैं। कभी - कभी सुषुप्ति में यदि कोई महापुरुष मिल जाता है तो उसकी सहायता मिल जाती है। वह रास्ता देखे हुए होता है तो साधक को अन्धकार से निकाल देता है। सुषुप्ति वैसे तो परमार्थ पथ में उत्तम अवस्था नहीं है। यह तब उत्तम अवस्था बनती है जब इसके साथ ईश्वर के गुण होंगे। बिना गुणों के भक्ति नहीं हो सकती ।

ईश्वर की प्राप्ति का कोई भी रास्ता अपनायें, यदि सदगुणों को नहीं अपनायेंगे तो किसी प्रकार की पद्धति से आपको सफलता नहीं मिलेगी। भक्ति का यह अर्थ नहीं कि केवल किसी मूर्ति या तसबीर की पूजा करो। कोई भी साधना करो, सदगुणों को अपनाना तो उसकी नीव है वैसे भी देख लीजिये जो व्यक्ति सदव्यवहार करता है, जिसके हृदय में सदविचार उठते हैं और जो सदगुरु को अपनाता है, उसके भीतर में प्रेम और शान्ति स्वभाविक रूप से उत्पन्न हो ही जाते हैं ।

भगवान कृष्ण ने गीता के बारहवें अध्याय में तेरहवें शलोक से लेकर बीसवें शलोक तक अपने भक्त साधक के बहुत से गुण बताये हैं। भगवान ने तेरहवें शलोक में ही बहुत कुछ बात दिया है जिसके पहले शब्द में ही पहला गुण है - अद्वेषता अर्थात मन में किसी के प्रति तनिक भी द्वेष की भावना न रहे। हम जो रोज़ अख़बार पढ़ते हैं उसमें जो खबर हमारी भावना के अनुकूल होती है, उससे हमें सुःख होता है, नहीं तो दुःख। राग - द्वेष उत्पन्न होता ही रहता है ।

भगवान अपने भक्त से जिस पहले ही गुण की आशा रखते हैं वह है अद्वेषता । इसी शलोक का अन्तिम गुण है क्षमा। व्यक्ति क्षमाशील हो। हज़रत ईसा साधक को कहते हैं "seventy times seven " हज़ारों बार भी क्षमा करना पड़े तो भी क्षमा किये जाओ। तुम्हारा यहीं स्वभाव होने चाहिये, बदले या द्वेष भावना का नही । क्षमा परमात्मा का मुख्य गुण है। क्षमादान आत्मा का गुण है । ऐसे गुण अपने भक्तों में भगवान को अति प्रिय हैं। इन गुणों को सीखने के लिए मेरा निवेदन है , बार -बार अनुरोध है कि आप इन्हें स्वयं अपनायें और इसके लिए प्रतिदिन नहीं तो कम से कम सप्ताह में एक बार इन ८-१० श्लोकों को अवश्य दुहरावें। इन गुणों वाले साधक को प्रत्येक मार्ग में सफलता अवश्य मिलेगी चाहे वह ज्ञानयोग , कर्मयोग अथवा भक्तियोग किसी भी पथ पर चले ।

गुरु महाराज आपको शक्ति दें ।

प्रेम से ही परमात्मा की अनुभूति होती है

आजकल नवरात्रों के व्रत रखे जा रहे हैं, माँ की पूजा हो रही है । माँ क्या है ? कोई शक्ति है जो परमात्मा से निकलती है । वो सर्व-व्यापक है । एक ही जगह सीमित नहीं है । उस शक्ति की अमृतधारा सब पर एक जैसी पड़ रही है । हमें उस शक्ति को ग्रहण करना है । उस शक्ति को ग्रहण करने का सीधा सा साधन है कि सरलता से बैठ जाएँ और मन ही मन बड़े प्रेम से ईश्वर का नाम लेते रहें । माँ की इस शक्ति की प्रसादी सबको प्राप्त हो सकती है । माँ किसी से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यव्हार नहीं करती, वो अपना स्नेह सबको देती है । उस प्रसादी को ग्रहण करने के लिए, जैसे एक छोटा सा नवजात शिशु अपनी माँ की गोद में बैठ जाता है, उसी प्रकार से हम भी बड़ी सरलता से, बड़ी सत्यता से, अपना बल छोड़कर माँ के चरणों में बैठे और प्रतीक्षा करें उस प्रसादी का , मन ही मन बड़े प्रेम से ईश्वर का नाम लेते रहें । मनुष्य चाहे वह किसी भी धर्म का, किसी भी सम्प्रदाय का हो, किसी भी देश का हो, उसकी आंतरिक अभिलाषा, छिपी हुई चाह, यही होती है कि उसको किसी भी प्रकार से ऐसी शान्ति मिले ऐसा जीवन मिले जहाँ न मृत्यु हो, न बुढ़ापा हो, न बीमारी हो और न किसी प्रकार का अभाव हो, पूर्ण शान्ति हो । इसी शान्ति को हमने संक्षिप्त में 'नाम' भी कह दिया है । ये अक्षर मात्र अक्षर नहीं हैं । नाम और नामी परमात्मा में कोई अंतर नहीं है । आत्मा परमात्मा को ही सच्चा नाम कहते हैं । उसी के लिए हम प्रार्थना करते हैं कि हमें भी एक नाम मिल जाय यानी ईश्वर हमारे रोम-रोम में बस जाये और हमारे भीतर में जो राक्षस बैठे हैं जिनके लिए हम आज से व्रत रख रहे हैं, वो ख़त्म हो जाएँ। मेरा चित्त निर्मल हो जाए और मैं भी विजय दशमी का त्यौहार सरलता से मनाऊं अर्थात मेरे भीतर में काम,क्रोध, मोह, लोभ, अहँकार रुपी जो शत्रु हैं, राक्षस हैं उन पर मैं विजय प्राप्त करूँ ताकि मैं भी भगवान राम का प्रतीक बन सकूं अर्थात मैं भी अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर सकूँ, मैं भी अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला सकूं। मैं भी सच्चे योग की प्राप्ति कर सकूँ । इस प्राप्ति के लिए दो मुख्य साधन हैं - एक निवृत्ति मार्ग और दूसरा प्रवृत्ति मार्ग अर्थात राजयोग । निवृत्ति मार्ग में संन्यास में सब कुछ त्याग देते हैं । घर-बाहर, धन-दौलत सब त्याग देते हैं। केवल एकांत में जाकर प्रभु का चिंतन करते हैं । परन्तु सन्यासी बनना प्रत्येक के बलबूते का काम नहीं हैं । सन्यासी अपना सिर मुड़वा देते हैं ताकि उसका एक भी संस्कार न रहे, उसकी आसक्ति

बिलकुल ही ख़त्म हो जाए । उसका संसार के प्रति जो चिपकाव, मोह हैं, वह बिलकुल ख़त्म हो जाये। जब वह बिलकुल अग्नि -रूप हो जाता हैं तो उसका गुरु उसे अग्निरूप गेरुए कपडे प्रदान करता हैं और तब वह समझता हैं कि अब यह व्यक्ति सन्यास का अधिकारी हैं । वास्तव में सन्यास के अधिकारी तो बहुत कम होते हैं । लाखों में से कोई एक-आध व्यक्ति ही होता हैं, बाक़ी ये जो गेरुए कपडे पहने होते हैं वो सन्यासी नहीं कहलाते । सन्यासी तो अग्नि का रूप होता हैं । उसने सब कुछ जला दिया होता हैं और अग्नि-रूप बन कर वो दूसरों के भी मानसिक रोगों को जलाकर शुद्ध कर देता हैं, उनकी सेवा करता हैं और उनको भी अधिकारी बनाने का प्रयास करता हैं । दूसरा मार्ग हैं राजयोग का यानि प्रवृत्ति मार्ग । इसको विस्तार से न कहता हुआ थोड़ा सा ही कहता हूँ -- पारिवारिक जीवन व्यतीत करना यानि पारिवारिक जीवन कैसे व्यतीत करें ? सब महापुरुषों की वाणी में, सब शास्त्रों में ये वर्णन हैं कि यदि स्त्री और पुरुष (पति-पत्नी) में पूर्ण सहयोग हैं, वे दो शरीर और एक मन हैं, एक आत्मा हैं, तो पति-पत्नी के इस प्रेम से ही आत्मा की अनुभूति हो सकती हैं, ईश्वर के दर्शन हो सकते है । यह तो आप सब ने सुना ही हैं कि पति जितना साधन करता हैं ,कमाई करता हैं और पत्नी उससे प्रेम करती हैं तो पति की आधी कमाई पत्नी को मिल जाती है। इसी प्रकार से यदि पत्नी कमाई करती हैं और पति उससे प्रेम करता हैं तो पति को पत्नी की आधी कमाई मिल जाती हैं। ये बिलकुल सत्य हैं। इसमें तर्क नहीं करना चाहिए। जिस परिवार में प्रेम नहीं, आपस में सहयोग नहीं, वहाँ सुबह से शाम तक कीर्तन होता रहे या और कुछ साधन हो, उसका कोई लाभ नहीं । जिस परिवार में प्रेम हैं, शान्ति हैं, आनंद हैं, सहयोग हैं, सब लोग एक दूसरे के लिए तन-मन-धन न्योछावर करने के लिए तैयार रहते हैं, एक ने कहा दूसरे ने मान लिया, कोई तर्क नहीं करता, वहीँ परलोक का सुख हैं। वहीँ आत्मा को समीपता हैं । आत्मा की अनुभूति तभी होती है जब मन की चंचलता ख़त्म हो जाती है तथा मन स्थिर हो जाता है । मन तभी स्थिर होता है जब मन में सद्विचार उठते हैं, मुख से मधुर वाणी निकलती है, व्यव्हार से सद्गुणों का विकास होता हैं । तब जाकर मन स्थिर होने का अधिकारी बनता है । जैसे ही मन स्थिर हुआ कि आत्मा का प्रकाश होने लगता है । यदि पारिवारिक जीवन में ये तीन गुण हों - सहयोग हो, मधुरता हो, एक दूसरे के लिए बलिदान देने के लिए तैयार हों, तो दोनों ही शरीर भले ही पृथक-पृथक दीखते हों, परन्तु उनका जीवन एकसुई का होगा, भिन्नता का नहीं होगा । उस

एकता में दोनों के मन स्थिर हो जायेंगे और वे अधिकारी हो जायेंगे। अगर उनका जीवन इसी तरह प्रेम मय होता गया तो एक क्षण ऐसा भी आएगा कि उनके भीतर जो आत्मा है उसका विकास हो जाएगा । हम जानते हैं कि दो व्यक्ति जब आपस में मिलते हैं , प्रेम करते हैं तो प्रेम में वे अपने आपको भूल जाते हैं । दो-चार क्षण मौन के ऐसे आते हैं जब दोनों व्यक्ति अपने आप को बिलकुल भूल जाते है । भीतर में एक पवित्र शांति मय मौन के सूर्य का उदय हो जाता है। ये आत्मा की समीपता है और इसे ही बढ़ाना है ।विवाह में हम फेरों पर बैठते हैं । लड़का (वर) विष्णु भगवान का प्रतीक बनता है । वह परमात्मा रूप, परमात्मा का प्रतीक अग्नि जो स्वच्छ है, उसी के आगे शपथ लेता है कि मैं परमात्मा विष्णु का प्रतीक, स्वरुप, बनकर लक्ष्मी रुपी स्त्री (वधु) की रक्षा करूंगा, उसकी सेवा करूंगा, उस पर सब कुछ न्योछावर कर दूंगा । इसी प्रकार लड़की (वधु) भी लक्ष्मी का रूप बनकर शपथ लेती है कि जैसे लक्ष्मी जी ने भगवान विष्णु की सेवा की, उनकी हृदयांगनी बनी, उसी प्रकार मैं भी अपने होने वाले पति की सेवा स्नेह के साथ करूंगी। दोनों ही उस पवित्र अग्नि के फेरे लेते हैं, जो शपथ दृढ करने का तरीक़ा है । परन्तु इस वक्त (फेरे के समय) इतना शोरगुल मचता है कि हम उस उपदेश को सुनते ही नहीं और जो शपथ हम लेते हैं उस शपथ को भूल जाते हैं कि हमने क्या शपथ ली थी । इसीलिए हम देखते हैं कि आजकल परिवारों में सुख नहीं, शांति नहीं । इसका कारण यही है कि हम अपने दायित्वों को भूल जाते हैं । पति-पत्नी एक दूसरे को दोष देते हैं , जबकि उन्हें एक दूसरे को दोष नहीं देना चाहिए उस अग्नि के समक्ष बैठ कर जब दोनों एक हो गए, प्रेम रूप हो गए, तो फिर दोष किसको दें । प्रेम में विभाजन नहीं है, प्रेम में एकता है, प्रेम में सुख है, शांति है । प्रेम में ही आत्मा परमात्मा है। पारिवारिक जीवन में परमात्मा की अनुभूति करने का बड़ा सरल साधन है। जितने भी महिर्षि, जितने भी देवा , भगवान राम, कृष्णा, वशिष्ठ ऋषि आदि हुए हैं सबने गृहस्थ आश्रम को ही अपनाया है । हमें चाहिए कि हमारे महापुरुषों ने इस पवित्र जीवन जीने का जो रास्ता बताया है हम उसको अपनाने का प्रयास करें। बाधाएं आएँगी, अड़चनें आएँगी, संसार में रहते हुए अच्छे आदमी को अधिक अड़चनें आती हैं, अधिक बाधाएं आती हैं, हमें उनकी चिंता नहीं करनी चाहिए । ईश्वर का आश्रय लेकर, ऊंचे आदर्शों को ग्रहण करते हुए अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयास करना चाहिए । ईश्वर सबका कल्याण करें । राम सन्देश : मई १९८८

भक्त और सहनशीलता

(परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

सत्संग में आकर सद्गुण उत्पन्न होने चाहिए। सत्संग में आकर या घर में बैठ कर साधना की, किन्तु ईश्वरीय दिव्यगुण उत्पन्न नहीं हुए, क्षमा करेंगे,तो साधना का विशेष लाभ नहीं होगा। पूज्य गुरु महाराज ने फ़रमाया है कि जिन पर ईश्वर की कृपा हो जाती है, अपने बल-बूते कुछ नहीं होता, सेवा पैदा हो जाती है। नदी का जल बहता रहता है, धरती को पानी देता है, धरती पानी को लेती है। उसमें खेती होती है, फसल उपजती है, संसार को लाभ पहुँचता है । धरती कुछ नहीं माँगती। गंगा का जल बहता रहता है, लोग आते हैं, स्नान करते हैं, पवित्र होते हैं। अमृत जल लेते हैं और जब घर लौटते हैं तो गंगा जल लेकर आते हैं। ऐसा गुण साधक में होना चाहिए कि वो अपना तन, मन, धन - अपना सब कुछ। संसार की सेवा में अप्रयास ही लगाता रहे। अर्थात बिना किसी आशा के संसार को सुख पहुँचाता रहे। यह उसका सहज स्वभाव हो जाये, नदी की तरह। तब उसे समझना चाहिए कि वह सच्चा जिज्ञासु है। जब तक वह दूसरों को सुख न पहुँचा सके, उसे नींद न आये। ऐसी उसकी सहज स्थिति हो जाय ।

गुरु महाराज ने दूसरा गुण बताया है - सूर्य की तरह । सबका भला करना । गुरुवाणी में भी आता है *" ब्रह्मज्ञानी ते कछु बुरा न भया ।"* उससे किसी का बुरा नहीं होता । अपितु उससे दूसरों का भला ही भला होता है। उसके हृदय में, उसके मस्तिष्क में, किसी के लिए बुराई की बात आती ही नहीं । उसको सभी परमात्मा स्वरुप दिखते हैं और परमात्मा स्वरुप देखकर वह सबकी सेवा करता है । दूसरा गुण है सूर्य की तरह उदारता । सूरज सबको दर्शन देता है, सब पर अपना प्रकाश डालता है, सबको अपनी रौशनी प्रदान करता है, सबको अपनी एक जैसी गरिमा बांटता रहता है । गंगा नदी भी ऐसे ही बहती रहती है। सूर्य भगवान भी ऐसे ही सबको प्रकाश और गर्मी प्रदान करते रहते हैं । सूर्य की गर्मी न हो तो संसार का विनाश हो जाय। संसार क़ायम है तो सूर्य की गर्मी के कारण । इसी तरह सच्चे जिज्ञासु में भी उदारता होनी चाहिए । बिना प्रयास के, ऐसा उसका सहज स्वभाव बन जाये। कोई उससे दुश्मनी करता है, वो उसके पाँव पकड़ता है, वो उसको सुख पहुँचाता है ।

शेख फ़रीद जी कहते हैं कि जो तुम्हें गाली दे, तुम उसके घर जाओ, उसके घर जाकर उसके पाँव दबाओ। साधना केवल आँखें बंद करना नहीं है, आँखें बंद करना तो पहली कक्षा है । हम लोग काफ़ी आगे बढ़ चुके हैं । सोचना चाहिए, स्व-निरीक्षण करना चाहिए कि हममे अब तक क्या परिवर्तन आया है ? क्या हमारा स्वभाव नदी की तरह हो गया है ? क्या हम जीव-दानी सूर्य भगवान जैसे बन गए हैं ? मन्ज़िल बहुत दूर है। अभी कुछ भी नहीं हुआ है। भाई लोग कहते हैं, मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन नहीं लगता। सच कहते हैं, वो झूँठ नहीं कहते। हमने अभी तक ईश्वर के गुणों को अपनाया नहीं है । पूज्य गुरुदेव बेशक जिज्ञासु के गुणों का वर्णन कर रहे हैं, वास्तव में ये परमात्मा के ही गुण हैं । और जब तक परमात्मा की कृपा से जिज्ञासु में ये गुण नहीं आते, तब तक वो अधिकारी नहीं बनता। *" ब्रह्मज्ञानी पर - उपकार ",* उसके भीतर में उमंग होती है कि वह किस तरह दूसरे का भला करे। यह उसका सहज स्वभाव होता है, वह बनकर ऐसा नहीं करता। वो उसकी सहज वृत्ति है। जैसे नदी की वृत्ति है, इस तरह सहज स्थिति जिज्ञासु की बन जाये ।

तो पहला गुण बताया है नदी का, दूसरा बताया है सूर्य का और तीसरा गुण बताया है धरती का। ब्रह्मज्ञानी में धरती के समान सहनशीलता होनी चाहिए। धरती में बड़ी सहनशीलता है । हम किसी भी प्रकार के जूते पहन कर धरती पर चलते हैं, धरती कुछ नहीं कहती। हम गंदगी डालते हैं, पाँव डालते हैं, धरती रोती नहीं। ये जो धरती का स्वभाव है महान, ऊँचे से ऊँचे ज्ञानियों का स्वभाव है । धरती और अग्नि का सहज स्वभाव है । लेकिन यह बड़ा कठिन है। हमें कोई ज़रा सी बात कह देता है तो आग लग जाती हैं। तो यह तो साधना नहीं है। हमें ये अभ्यास करना होगा । कोई हमारे पर पत्थर फेंकता है, हमें गाली देता है, हमसे लड़ाई करता है - तो इस सबके लिए हममें सहनशीलता होनी चाहिए । हमारे देश में स्त्री और धरती की पूजा की जाती है, क्योंकि इन दोनों में यही गुण है सहनशीलता का। पुरुषों में यह बहुत कम है। लेकिन, बहनें क्षमा करेंगी, वर्तमान में वे अपने इन गुणों को भूलती चली जा रहीं हैं। नई पश्चिम की संस्कृति आ रहीं है, वे उससे प्रभावित होती जा रही हैं। हमारा जो रूप था वो ईश्वरीय रूप था । हमें माता कहा जाता था। हमारे गुणों के कारण माँ के रूप में हमारी पूजा होती थी। और वो माँ आज कहती है, मेरा भी समाज में कोई स्थान है। बुरा मत मानिये, बहने अपने इस महान गुण को छोड़कर संकीर्णता (narrow mindedness) की तरफ़ बढ़ रहीं हैं।

हमारे यहाँ मन्दिरों में, गुरुद्वारों में सब जगह स्त्री माँ की पूजा होती थी , घर में तो होती ही थी। पर उनका दोष नहीं है पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव इतने ज़ोर से, इतने वेग से आ रहा है कि हम अपने इन ईश्वरीय गुणों को , ईश्वर की समीपता को, कूड़े -करकट में फेंक रहे हैं।

तो पूज्य गुरुदेव कह रहे हैं कि सच्चे जिज्ञासु में तीन गुण होने चाहिए । नदी की तरह दूसरों की सेवा करें, सूर्य की तरह दूसरों को लाभ पहुँचायें और धरती की तरह सहनशीलता अपनायें । बिना गुणों के भक्ति नहीं होती । " बिन गुण भक्ति न होई " भक्ति के अर्थ हैं, हम चाहे ज्ञान की साधना करें या प्रेम की साधना करें, बिना गुणों के कोई भी, किसी भी प्रकार की साधना सफ़ल नहीं हो सकती। इतने ऊँचे गुण होने चाहिए तब हम अधिकारी बनते हैं। आज सुबह किताब खोली, मेरी आँखें चौंधयाने लगीं कि ये क्या लिखा है ? अपने आप का स्व-निरीक्षण करके देखा तो पाया कि ये तो बिलकुल कोरा है, कोरा ही कोरा। कहाँ गुण है धरती जैसा, कौन गुण है नदी जैसा, कौन गुण है सूर्य जैसा ?

भगवान श्रीकृष्ण भी अर्जुन को गीता में सूर्य का ही उदाहरण देते हैं । 'तू कर्म कर जैसे सूर्य भगवान् कर्म करते हैं। मैं भी कर्म करता हूँ, मुझे भी कर्म का फल नहीं लगता।' । सूर्य भगवान भी इतनी सेवा करते हैं, इतने कर्म करते हैं, उनको भी कर्म का फल नहीं मिलता है । तू भी कर्म कर लेकिन कर्म के फल की आशा मत रख। कर्म के फल का प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ना चाहिए । फल चाहे अच्छा हो या बुरा। ये जीवन की एक साधना है । हम जो कर्म करते हैं, आशा रखके करते हैं। किसी ने अच्छी बात कही, प्रसन्न हो जाते हैं,, किसी ने ग़लत बात कह दी, अयोग्य बात कह दी, तो तुरन्त गुस्सा आ जाता है । ये तो साधना नहीं है । हमारी मंज़िल अभी बहुत दूर है। घबरायें नहीं, चले जाइये, चलते जाइये, चलते जाइये । परन्तु आदर्श हम सबको यही रखने होंगे। ये स्थिति जब ईश्वर के पास से आ जाती है, तब परमात्मा का मिलन, सच्चे पति का मिलन होता है, सच्चे माँ के दर्शन तुरन्त हो जाते हैं । हमारे चित में अभी भी बड़ी मलिनता है, बड़ी मलिनता है। कठोरता है, कठोरता है। मुलायमियत नहीं है, दृढ़ता नहीं है । लोग-बाग़ समझते हैं कि आँखें बंद कर लीं, बस यही काफी है। मैं ये बार-बार कहता हूँ, सद्गुणों को अपनाइये । जब तक सद्गुणों को नहीं अपनायेंगे, सतगति नहीं आएगी। मन में कोमलता नहीं आएगी । कोमल मन स्थिर हो सकता है, स्थूल मन स्थिर नहीं होता है । ये कोमल होकर ही आत्मदेश में प्रवेश पा सकता है, उससे पहले नहीं। ये अधिकारी

तब ही हो सकता है । इसको पुष्प की तरह खिलना चाहिए, अप्रयास सबको सुगन्धि प्रदान करनी चाहिए । जिव्हा में, वाणी में, कठोरता नहीं आनी चाहिए। जैसे पूज्य गुरु महाराज ने फ़रमाया है, हमारे व्यवहार में नदी की तरह दीनता, सबकी सेवा करना, सूर्य की तरह सबको गर्मी प्रदान करना, सबको जीवन प्रदान करना, और संसार में रह कर दुःख-सुख, दूसरों की बातें, सबको सहन करना, आना चाहिए ।

आज इन तीन बातों पर ही मनन करें, घर जाकर और आगे भी, इनके लिए प्रयास करें। मुझे आशा है, विश्वास है, कि आपलोग इन तीन बातों को भूलेंगे नहीं, इनमें परिपक़्वता आयेगी । देर लगेगी, चिंता मत कीजिये, कोई आपसे बुरा-भला नहीं कहेगा, परन्तु अभ्यास आज से ही शुरू कर दीजिये। मैं पिछले कई महीनों से बार-बार कह रहा हूँ कि परिवार में एक दूसरे के साथ सहयोग होना चाहिए। जो व्यक्ति परिवार में सफल हो जाता है, वह संसार में भी सफल हो जाता है, और परमात्मा के पद पर भी सफल हो जाता है। पूज्य गुरु महाराज ने ये जो तीन गुण लिखे हैं ये प्रेमी भाइयों के लिए, विशेषकर जो पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं, उनके लिए लिखे हैं। मुझे आशा है कि आप इन तीन गुणों को अपना कर मुझे अपना आभारी बनायेँगे ।

गुरुदेव आप सबका भला करें ।

राम सन्देश : सितम्बर-अक्टूबर, २०१०

मन प्रतिक्षण चंचल रहता है

" मैं आपके वास्ते बता दूँ आपका अभ्यास अब काफी हो गया है । इसे बंद कर दें । इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं मालूम देती ।"

पूज्य लालाजी महाराज दादागुरु अपने प्रिय शिष्य को पत्र लिख रहे हैं । उसकी आत्मिक स्थिति देखकर फरमा रहे हैं कि भीतर का अभ्यास आपके लिए काफी हो गया है । अब अपने मन को देखिये ।

भाई-बहिनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है इस बात को गंभीरता से सुनें और समझें और अपने पूज्य गुरुदेव के आदेशों का पालन करें । हम सब लोग भूले हुए हैं । आँखें बंद कर लेने को हम समझ लेते हैं कि इसी से सारा काम हो जायेगा । आँख तो बच्चे भी बंद कर लेते हैं । प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी आंतरिक स्थिति को देखे तो वह अनुभव करेगा कि उसका मन प्रति-क्षण चंचल रहता है । राग-द्वेष में फंसा है । इच्छाओं, ईर्ष्या, क्रोध की अग्नि में जलता रहता है । घरवाले हमसे कहते हैं कि आप सत्संग में जाते हैं, वहां क्या करते हैं । आपकी स्थिति तो बच्चों से भी गिरी हुई है । इसलिए हमें सोचना है कि हम सत्संग में आये हैं, दीक्षा ली है, हमें क्या करना चाहिए ?

हमारा ध्येय है कि हम ईश्वर जैसे बन जाएँ । यदि अभी तक नहीं बने तो इसका कारण क्या है? इस पत्र में पूज्य गुरु महाराज अपने शिष्य से कह रहे हैं, ' आपने अभ्यास किया है, यह काफी है । आगे चलिए । अपने मन का स्व-निरीक्षण करिये । आप अनुभव करेंगे कि आपके भीतर में ऐसी बुराइयां हैं जो बच्चों में भी नहीं होतीं । बुरा नहीं मानिये । गुरु किया जाता है कि वह समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन करता रहे । हमारे दोषों को बताये । हम सब अहंकारी हैं । हम अपने दोषों को नहीं देखते । हम दूसरों के दोषों को देखते हैं । यही कारण है कि हमें हमारी साधना में पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिलती । कोई भी व्यक्ति परिपक्व नहीं है । यहां पूज्य गुरुदेव फरमा रहे हैं " मैं आपके वास्ते मुनासिब हाल यह समझता हूँ कि चढ़ाव का अभ्यास ब हालत मौजूदा आपके लिए काफी हो गया है । इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत

मालूम नहीं होती । लेकिन तावखते कि इन्द्रियां, मन और दीगर तत्व मग़लूब होकर तरकीब में न आ जाएँ, उस वक्त तक लताफ़ नहीं आती और न असली शांति मिलती है ।'

हम अपनी इन्द्रियों के गुलाम हैं। अपने मन के गुलाम है। मन जो चाहता है वह हम करते हैं । हमारी बुद्धि हमारे मन पर हावी नहीं है । हम अपने मन और बुद्धि पर नियंत्रण नहीं रखते । मन हमारे वश में नहीं है, बुद्धि हमारे वश में नहीं है ।

भीतर में और भी तत्व हैं, जैसे अहंकार है, राग-द्वेष है, अनेक अवगुण हैं जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है । कई भाई लोग आते हैं, कहते हैं, बीसों बरस बीत गए, लेकिन हम जैसा चाहते थे वैसा नहीं बन पाए । सरलता में कह देते हैं, हममे क्या कमी है ? कमी तो अनेक हैं, अनेक त्रुटियां हैं। यह जीवन बड़ा कठिन है । साधना, अभ्यास आप जो कुछ भी करते हैं, उसके साथ-साथ अपने मन का स्व-निरीक्षण अवश्य करें । अपनी कमज़ोरियों को, अपने दोषों को, देखना चाहिए और कागज़ पर लिख लेना चाहिए । यह लालाजी महाराज का आदेश है। अधिकांश हम सब लोग मन के गुलाम हैं । करना यह चाहिए कि जैसा हम कहें वैसा हमारा मन करे लेकिन जो मन चाहता है, हम वह करते हैं । इसलिए साधन में सफलता मिलना कठिन है । तब तक साधना में जैसी सफलता आप चाहते हैं, नहीं मिल पायेगी । जो आनंद में बाधा डाल रहा है वह हमारा मन है । हम स्वयं बढ़ा डालते हैं और कहते हैं कि हमारा मन नहीं लगता ।

पूज्य गुरु महाराज फरमा रहे हैं कि जिज्ञासु को एक वीर, एक योद्धा, एक सिपाही बनना चाहिए । उसका प्राथमिक सबक है कि वह अनुशासन में रहे। जो लोग कुछ समय फ़ौज़ में बिता आये हैं वे जानते होंगे कि फ़ौज़ में पहले यह बताते हैं कि आप मिलिट्री में आ गए हैं यहां अनुशासन का पालन करना अति आवश्यक है । सत्संगी को भी ऐसा ही करना पड़ेगा । अपने मन को, अपने शरीर को, प्राणों को, बुद्धि को वश में करने के लिए किसी बड़े व्यक्ति के अनुशासन में रहना होगा । बच्चे स्कूल जाते हैं, वे अपने अध्यापक के अनुशासन में रहते हैं उसके बाद आगे चलकर संसार में प्रवेश करते हैं।

इतिहास पढ़ लें। पत्नी को अपने पति की इच्छानुसार काम करना चाहिए। पार्वती जी ऐसा नहीं कर पायी । भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए, उनसे विवाह करने के लिए

तपस्या की। सती जी देखती हैं कि आकाश मार्ग से देवगणों की एक टोली संसार (पृथ्वी) की ओर बढ़ रही है । उनसे पूछा ' क्या बात है' ? वो हंसने लगे। आपकी छोटी बहिन का विवाह है और आपको पता नहीं । यह भावुकता उतपन्न होती है । भावुकता उसके मन में उतपन्न होती है जिसका अपने मन पर नियंत्रण नहीं होता । वह अपने पति शिव से पूछे बिना अपने माता-पिता की ओर बढ़ गयी। जब पार्वती (सती) के साथ ऐसा हो सकता है तो ऐसा किसी के भी साथ हो सकता है, अति कठिन है। सती जी आईं । इसके बाद जो कुछ हुआ बहुत दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। माता-पिता ने भी उनका स्वागत नहीं किया क्योकि भगवान शिव से उनके माता-पिता खुश नहीं थे । उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। उन्होंने अपने गणों को भेज दिया । हो सकता है कि वहां कुछ गड़बड़ हो जाये ।

यह मन की स्थिति है । यदि पार्वती जी अपने पति को भूल जाती हैं तो हमारी स्थिति कैसी होगी ? आप रोज़ प्रतिक्षण देखते हैं। आपका मन आपके वश में नहीं है । मन ईश्वर के आदेशों, गुरु के आदेशों के अनुसार नहीं चलता । आपके भीतर में शक्ति दी हुई है । आप उससे पूछ कर काम करें तो गलती नहीं करेंगे । जल्दवाजी में मन के पीछे पड़ जाते हैं, इसीलिए घर में झगड़े फ़साद हो जाते हैं। मन पर विजय प्राप्त करना अति-कठिन है । हर सत्संगी का धर्म है कि वह अपने मन को वश में करें । हम अपना मन गुरु को तो दे देते हैं परन्तु गुरु के आदेशों का पालन नहीं करते ।

यह पूज्य लालाजी महाराज का आदेश बहुत महत्वपूर्ण है । मैं पुराने भाइयों से भी निवेदन करूंगा, करबद्ध प्रार्थना करूंगा, कि इस पत्र को बार-बार पढ़ें। हम बड़ी जल्दी क्रोधित हो जाते हैं । कौन क्रोधित होता है - वह मन ही तो है । हमारा अपने मन पर नियंत्रण नहीं हैं। मन को बुद्धि के अधीन बनाना है । बुद्धि आत्मा या गुरु के अधीन होनी चाहिए । हम ऐसा करते नहीं। आज की सभ्यता ऐसा करती नहीं । पति-पत्नी एक समान हैं । पत्नी पति के अधीन क्यों रहे ? पश्चिम में तो पति पत्नी के अधीन रहता है । परन्तु जो इस रास्ते पर चलें उन्हें इस वाद-विवाद से ऊपर उठना चाहिए । वास्तविकता को देखना चाहिए कि किस तरह हमारा मन शुद्ध, पवित्र और हमारे वश में रहता है ।

पुरानी सभ्यता को न मानें, पर अपने मन को नियंत्रण में करें । भगवान शिव पार्वती से मिलने गए हैं । गणेश जी भगवान शिव को जाने नहीं देते । माता का आदेश है, माता की आज्ञा के बिना मैं आपको भीतर नहीं जाने दूंगा। उन्होंने समझा कि यह लड़का मेरा अपमान कर रहा है। क्रोध में उन्होंने उसकी गर्दन काट दी। यदि पार्वती और शिव को क्रोध आ सकता है तो हमारी क्या बिसात है । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी व्यक्ति के अधीन रहना चाहिए । मेरी बात का बहिनें बुरा न मानें । और भाई लोग भी बुरा न मानें। यह ज़रूरी है कि वे किसी व्यक्ति के अधीन रहकर अपने जीवन को ईश्वरमय बनाने का प्रयास करें । क्रोध पुरुष को भी आता है, स्त्री को भी आता है। स्त्री भूल जाती है कि मुझे क्रोध आता है और पुरुष भी भूल जाता है कि उसे क्रोध आता है। इसी तरह घर में महाभारत का युद्ध होता रहता है । जहां महाभारत का युद्ध होता रहता हो वहां आत्मा की कोमलता कहाँ से आएगी, आत्मिक अनुभूति कब होगी, परमात्मा के दर्शन कब होंगे ? हो ही नहीं सकते । इसलिए अपना व्यावहारिक जीवन कोमल बनाने की कोशिश करें ।

जब तक भीतर में कोमलता, शुद्धता और सात्विकता नहीं आएगी, साधना में कोई लाभ नहीं होगा । प्रत्येक कर्म का फल कुछ न कुछ तो होता ही है परन्तु जितनी आशा आप लेकर आते हैं वह निराशा में ही रहेगी ।

इन्द्रियों और मन दोनों पर विजय प्राप्त करनी है । खाना खाते हैं, भोजन बहुत स्वादिष्ट होता है, पेट की बीमारी को भूल जाते हैं, खूब खा लेते हैं । सत्संग में मैने कल दोपहर को खाना खा लिया । खाना बहुत स्वादिष्ट था। वैसे मैं एक पूड़ी खाता हूँ, पर दो खा गया। और भी खा गया । आप लोग जो प्रसाद लाते हैं वह भी खा गया । शाम को पेट भारी लगने लगा । अब मन यही करता था कि सत्संग से हट कर आराम करूँ। यह हादसा सबके साथ होता है, मेरे साथ ही नहीं ।

गुरु महाराज कह रहे हैं कि अपनी इन्द्रियों को वश में करिये । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार- जिन इन्द्रियों के कारण होते हैं, उनको अपने वश में कीजिये । इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जिन्होंने अपने ऊपर विजय प्राप्त करनी है, मन को वश में करें, बुद्धि को वश में करें । बुद्धि को ईश्वर की कृपा से भीतर में आवाज़ होती है । आप जब कोई बुरा काम करने

लगते हैं तो भीतर से चेतना की आवाज़ आती है- 'यह बात मत करो' । परन्तु मन को आदत पड़ गयी है कि वह भीतर की आवाज़ सुनता ही नहीं । इसे अंग्रेजी में consciousness कहते हैं , हिंदी में इसे चेतना कहते हैं । उस चेतना की, consciousness की, हम चिंता नहीं करते, परवाह नहीं करते । इन्द्रियों में, मन में जो रस आता है, हम उसके अधीन हो जाते हैं । साधारणतः स्कूल में बच्चों को सिखाते हैं -

" Think before you speak"- *बोलने से पहले सोचो* ।
"Look before you leap" - *छलांग लगाने से पहले देख लो* ।

ये बातें हमें बचपन में सिखाई गयी थीं । परन्तु अभी तक हम इन्हें अपना नहीं पाए हैं। हम अकारण ही बोलते रहते हैं, अपना मान दिखने के लिए। ' मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ । मैं सत्संगी हूँ' आदि । बहुत कम लोग शांत रहते हैं ।

गुरु महाराज ने कहा, ' आप जो साधना कर रहे हैं, अब बंद कर दीजिये ।' आप इस बात को अच्छा नहीं समझेंगे कि अभ्यास बंद कर दें । पूजा बंद कर दें । पर करनी पड़ेगी । इन्द्रियों और मन को वश में करना कोई आसान काम नहीं है । योद्धाओं का काम है । अर्जुन तक नहीं कर पाया । लक्ष्मण नहीं कर पाया । साधारण बात नहीं है । इसके लिए, गुरु महाराज कहा करते थे, कि यदि एक जीवन भी लग जाये तो भी चिंता नहीं करें, पर प्रयास करें । मन बुद्धि के, आत्मा के अधीन हो जाये। इन्द्रियां मन के अधीन हो जाएँ । परन्तु व्यक्ति बोलता कुछ और है और भीतर में कुछ और है। व्यवहार कुछ और है । प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि वह दूसरे को मूर्ख बनाये, उसका शोषण करे ।

" जेता सागर नीर भरा, तेते अवगुण हमारे "

हमारे चित्त पर इतने अहंकार भरे पड़े हैं और हम चाहें कि एक जन्म में मोक्ष मिल जाये, नहीं मिलेगी। कई जन्म लग सकते हैं।

" बहुत जनम बीते तुम बिन माधव, यह जनम तुम्हारे लेखे

कह रविदास आस लग जींवा चिरमय दरसनी पेखे।"

महापुरुष कहते हैं ' कई जनम बीत गए । हे भगवान् ! अब तो कृपा करें । मुझमें शक्ति नहीं है' । जब तक निर्मलता नहीं आएगी कुछ नहीं होगा । बड़े पाप हैं भीतर में । पुराने तो हैं ही, अब इस कम्प्यूटर में और नए अवगुण मत डालो ।

वास्तव में पूजा यही है कि अपने अवगुणों को देखना और पूज्य गुरु महाराज के आदेशानुसार एक-एक अवगुण को लेकर उससे मुक्त होने की कोशिश करें। हमारे यहां की यही साधना है। हमारे यहां का अभ्यास यही है। आँखें बंद तो बच्चे भी कर लेते हैं । हमारे चित्त पर जो अवगुण अंकित हैं उन्हीं के कारण हमारा स्वाभाव बनता है और उन्हीं के कारण हम दैनिक कार्य करते हैं । विचार आदि उठाते हैं । परन्तु हम उन्हें व्यवहार में नहीं लाते ।

मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग

ईश्वर ने मनुष्य को अपना जैसा बनाया है । अन्य जीवों की तुलना में इसमें विशेषता है कि इसमें विवेक है । वह अपने भविष्य को बनाने के लिए स्वतंत्र है एवं अतीत की मलीनता से मुक्त होने के लिए उसको ईश्वर ने शक्ति दी है । हमारा जीवन एक विस्तार के परिणाम-स्वरुप है - "We are the result of an evolution" इस प्राणी-मनुष्य के आने का मुख्य महत्व यह है कि वह अपने इस जीवन काल में आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाये - मोक्ष को प्राप्त हो । सच्चिदानंद - जो परमात्मा का स्वरुप है - उस स्थिति में लय हो और उसका स्वरुप - सत-चित-आनंद - उसके व्यवहार में भी विकसित होने लगे ।

सत चित आनंद उसके भी लक्षण हैं परन्तु दुर्भाग्यवश जिस मनुष्य को देखो वह अपने स्वरुप को भूला हुआ है । उसके अंदर शांति का भंडार है, आनंद और ज्ञान का भंडार है, परन्तु वह कहता है कि मेरे जैसा दुखी और कोई है ही नहीं । चाहे ग़रीब हो, अमीर हो, स्वस्थ हो अस्वस्थ हो, सब लोग अपने आपको दुःख से ग्रस्त पाते हैं । सब माया रुपी कीचड़ में फंसे हुए हैं। उनकी होश नहीं कि वो आप हैं क्या। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में परमपिता परमात्मा विराजमान हैं । प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में सुख का भण्डार है । ऐसा जीवन है जहाँ न जन्म-मरण है, न रोग-शोक है, मोक्ष की स्थिति है अपने भीतर । कैसी विचित्र माया है । तब व्यक्ति अपने स्वरूप को, अपने भण्डार को अपने भीतर में खोज क्यों नहीं पाता ?

जीवन का विस्तार होता रहता है, evolution होता रहता है । मनुष्य जब जन्म लेता है तो उसके चित्त पर पिछले जन्मों के सहस्त्रों संस्कार अंकित होते हैं । वह इन्हीं संस्कारों, जिनको हम वृत्तियाँ कहते हैं, के अनुसार व्यवहार करता है । उसका कर्तव्य यह है कि वह इस शरीर में रहते हुए इन वृत्तियों से मुक्त हो जाये । यदि ऐसा नहीं होगा तो उस दूसरा जन्म लेना पड़ेगा या किसी और योनि में जाना पड़ेगा । जितने भी दार्शनिक हुए हैं, संत-सुधारक हुए हैं, सबने मनुष्य को सचेत करने के प्रयास किया हैं । परन्तु मनुष्य सचेत नहीं हो पाता । वह अपने संस्कारों के कारण विवश है । उसका दोष नहीं है । पढ़े-लिखे व्यक्ति जो दर्शन जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि धर्म क्या है, यह भी जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, पर वे कर नहीं पाते। प्रत्येक व्यक्ति विवश है, वह चाहता है कि उसे सुख मिले, शांति मिले, ऐसा जीवन

मिले जहाँ कभी जीना-मरना न हो, अमर जीवन हो, मोक्ष का जीवन हो। परन्तु वह यह तय नहीं कर पाता कि इसके लिए वह करे क्या ? हम इस मनुष्य चोले में महान भाग्यशाली हैं । प्रत्येक जीव की विद्या यहीं से प्रारम्भ होती है । प्राचीन काल में इस तरह की शिक्षा बच्चों को दी जाती थी कि वह गुरुकुल में रहे । माता - पिता से अलग होकर गुरु की सेवा करे और गुरु से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करे । ये बातें अब ख़त्म हो गयी हैं ।

सरस्वती पूजन का पवित्र त्यौहार इन्हीं दिनों (बसंत पंचमी) में होता है । यह त्यौहार भी इसी का प्रतीक है । हम प्रत्येक वर्ष सरस्वती जी की पूजा करते हैं । परन्तु हम इस पूजन की वास्तविकता का अनुभव नहीं करते और न ही जो लोग जानते हैं कि यह त्यौहार क्यों मनाया जाता है वे लोग उसके अर्थ को समझ कर उस रास्ते पर चलते हैं । वास्तव में विद्या का मतलब यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने, अपने आप को जाने । प्रत्येक मनुष्य को जानना है कि वह कौन है ? शंकराचार्य जी ने लोगों को प्रेरणा दी । उन्होंने लोगों को समझाया 'तत्त्वमसि' अर्थात हे मनुष्य ! तुम तो वही हो जो ईश्वर है । तुम अपने आपको पहचानो 'know thyself' जब मनुष्य अपने आपको पहचान लेता है, अपने भीतर के ख़ज़ाने को जान लेता है तो वह समझ लेता है कि वो तो स्वयं ब्रह्म है, परमात्मा का अंश है, स्वयं परमात्मा ही है ।

इस स्थिति में तो वह हमेशा के लिए अमर हो जाता है। न तो उसको शारीरिक दुःख का ज्ञान होता है, न मानसिक दुःख रहता है, न बुद्धि का या अन्य किसी प्रकार का भौतिक रोग रहता है । वह पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है, आनंद-स्वरुप हो जाता है, आनंद में लय हो जाता है । समस्या तो यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने कैसे ? इसके लिए कई पद्धत्तियाँ हैं, कई साधन हैं। जो भी साधन या पद्धति उसको अच्छी लगे अपनाना चाहिए। कई महापुरुष हुए हैं जिन्होंने साधन बतलाये हैं - वे सभी साधन ठीक हैं, कोई गलत नहीं हैं ।

कोई लोग भक्ति के मार्ग को अपनाते हैं, वो ठीक हैं, कई लोग ज्ञान के मार्ग को अपनाते हैं, वो भी ठीक हैं। कई लोग कोई अन्य साधना करते हैं । साधन कोई गलत नहीं है । परन्तु मनुष्य को कुछ न कुछ करना चाहिए । हज़रत ईसा ने भी कहा है कि, ' ऐ मनुष्य ! तू

अपने आप को पहचान कि तू कौन है । तू तो वही है जो परमात्मा है। ' यही हमारे वेद कहते हैं । यही उपनिषद आदि सदग्रन्थ कहते हैं ।

पद्रहवीं शताब्दी में देश के कोने-कोने में परमात्मा की कृपा से अनेक संत हुए । पंजाब में ही नहीं, उत्तरी भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी अनेक संत हुए। हम उनकी जीवनियों से परिचित नहीं हैं । उस समय कबीरदास जी हुए। पंजाब में गुरु नानकदेव हुए । महाराष्ट्र में भी बहुत से संत हुए । यह पद्रहवीं शताब्दी कुछ विशेष समय था । उस समय जुल्म भी बहुत था । ईश्वर की कृपा से देश के कोने-कोने में बहुत से संत हुए। सबने संत मत अर्थात राजयोग का प्रचार किया । व्यक्ति को साधना के लिए ज़रूरी नहीं कि वह परिवार को छोड़कर जंगलों में जाए, एकांत में बैठकर साधना करे। वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । उसके तीन मुख्य रूप हैं । किसी महापुरुष को ढूंढो जिसको उन्होंने गुरु, सतगुरु कहा। उसका संग करो, उसका स्मरण करो। और नाम पद्धति जो गुरु ने बतलायी है उस पद्धति को अपनाकर अपना जीवन सफल करो । संक्षेप में परमार्थ साधन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं - सतगुरु, सत्संग और सतनाम ।

अब कठिनाई यह आती है कि सच्चा गुरु नहीं मिलता। महापुरुषों का कथन है कि यदि आपके पिछले शुभ कर्म हों और इस जीवन में कोशिश की जाये तो ईश्वर कृपा से एक सच्चे गुरु की सत्संगति प्राप्त हो सकती है । यहां ईश्वर कृपा को विशेष महत्व दिया गया है । जब सतगुरु मिल गए तो रास्ता सरल हो जाता है । सतगुरु में और ईश्वर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। सतगुरु का रोम-रोम परमात्मा में समरस हुआ होता है । वह परमात्मा का ही रूप होता है। उसका आचरण बहुत ऊंचा होता है । उसका व्यवहार सात्विक तथा आत्मिक होता है । उसका संग ऐसा होता है जैसे सूरज के पास बैठने से प्रकाश की अनुभूति होती है, ऊष्मा की अनुभूति होती है। इसी तरह गुरु के पास रहने से स्नेह एवं शांति की अनुभूति होती है । उसका संग करना मतलब गुरु के समीप बैठना है । उस महापुरुष के पास बैठना उसका संग करना है। जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती है वैसे ही यदि वह सच्चा संत है तो उसके पास बैठने से हमें मानसिक शांति मिलती है। हमारा मन स्थिर होने लगता है । हमें एक प्रकार की सुखानुभूति होती है जससे समाधि सी लग जाती है, आनंद की प्रतीति होती है।

व्यक्ति यदि सच्चा साधक है और उसका चित्त भी निर्मल है तो सच्चे गुरु के पास बैठने से उसकी शेष मलीनता, शेष बुराई भी जितनी उसके चित्त पर है धीरे-धीरे अपने आप धुल जाएगी। कोई कार्य करने की ज़रूरत नहीं। यदि सच्चा साधक ऐसे महापुरुष के पास रहता है और उसके आदेश के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है तो, विश्वास रखिये, कि थोड़े ही समय में उसमें ऐसा परिवर्तन आ जायेगा कि सारा संसार देखेगा कि इसको क्या हो गया। यह रीति कोई नवीन नहीं है। यह हमारी पुरातन संस्कृति का मात्र एक अंग है जिसको हमने भुला दिया है ।

हर जिज्ञासु को इस खोज में रहना चाहिए कि कोई सच्चा संत मिल जाये जिसके पास बैठने पर और कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं हो। गंगा-स्नान करने पर शीतलता की अनुभूति न हो यह असम्भव है। सच्चे संत के पास बैठकर यदि शांति नहीं मिलती तो या तो हमारा चित्त बहुत ही मलीन है या उस संत में कोई कमीं अवश्य है। जब सतगुरु मिल गया तो फिर करना होगा उसका सत्संग । यह सत्संग शुरू शुरू में समीप बैठकर होता है परन्तु बाद में सतगुरु और सच्चे सेवक का आंतरिक सम्बन्ध हो जाता है, प्रेम का नाता हो जाता है । गुरु शिष्य के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देता है, सब कुछ न्योछावर कर देता है । हम अपने कमरे में एक छोटा सा फोटो लगते हैं उसका जिसको हम प्यार करते हैं । यह भी उसी का प्रतीक है, एक प्रकार की स्मृति है, एक प्रकार की याद है, नाम है। इसी को स्मरण कहते हैं। यह भी नाम का एक रूप है ।

यदि उस महापुरुष के साथ साधक का आत्मिक सम्बन्ध हो जाता है तो उसको, या यदि वह अपना शरीर छोड़ चुके हैं, आत्मा के रूप में हैं तो उनको याद करने से भी आत्मिक लाभ होता है । सतगुरु रास्ता बतलायेंगे, तो वे नाम देंगे । जिस नाम से वे साधना करने को कहें उसे सतनाम कहते हैं । नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं होता । जब सतगुरु नाम देता है वह केवल यह नहीं कहता कि "राम कहो, ॐ कहो" । शर्त यह है कि सच्चे साधक का चित्त निर्मल हो और उस नाम को ग्रहण करने की उसमें उत्सुकता हो । सूरज बाहर प्रकाश दे रहा है, हम खिड़की बन्द कर देते हैं तो सूरज का कोई दोष नहीं जो प्रकाश हमें नहीं मिल रहा । दोष हमारा है कि हमने खिड़की बन्द कर रखी है । इसलिए यह आवश्यक है कि सच्चा गुरु भी हो और सच्चा साधक भी जो अपने हृदय की खिड़की खोल कर रखे ।

कई अभ्यासियों को पहली ही स्थिति में, पहली ही बार बैठने पर, आत्मिक अनुभूति होना शुरू हो जाती है, किसी को बाद में धीरे -धीरे प्राप्त होती है। यह जैसी किसी की स्थिति होती है उसे वैसे प्राप्त होती है । इसी को गुरु-प्रसादी या ईश्वर-प्रसादी कहते हैं। प्रसादी का मतलब है - गुरु की कृपा, गुरु की प्रसन्नता जो शिष्य पर हो जाती है । गुरु शिष्य पर कई प्रकार से कृपा करता है। उधर शिष्य की सबसे उत्तम सेवा गुरु के आदेश को शत-प्रतिशत मानने और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने में है । गुरु कुछ नहीं चाहता, वह केवल यही चाहता है कि शिष्य कुशलता पूर्वक रहे और वह इस प्रकार जीवन व्यतीत करने के लिए शिष्य को कुछ बातें बता देता है। जैसे हमारी संस्कृति के कुछ यम और नियम हैं, उनकी बातें बता देता है। जो सच्चा साधक होता है वह गुरु की प्रशंसा का पात्र होने की कोशिश करता है। वह उनके उपदेशों का पालन करता है। जितनी उसकी पात्रता बढ़ती जाती है उतना ही अधिक प्रसाद शिष्य को गुरु से मिलता जाता है। एक समय ऐसा आ जाता है कि कबीरदास जी कहते हैं - "तू-तू करता तू भया, मुझमें रहा न हूं ।" नाम का अर्थ केवल शब्द नहीं है । नाम और नामी, या गुरु और शिष्य - दोनों एक ही चीज़ हैं ।

यह नाम एक बीज है। यही बीज अंकुरित होता है, पौधा बनता है, बृक्ष बनता है, पत्ते लगते हैं, शाखाएँ लगती हैं, फल-फूल लगते हैं। नाम एक सीढ़ी है, नाम एक रास्ता है। शुरू में यह साधना कहलाता है।साधना की पूर्ति होने पर यही नाम, नामी से मिला देता है। सारी साधना-अवस्था को नाम ही कहते हैं। केवल नाम लेते रहना, राम-नाम या 'ॐ' आदि कहना काफ़ी नहीं है । काठ की माला जपने से कुछ ख़ास फ़ायदा नहीं होगा। मन की माला जपनी चाहिए। धीरे-धीरे मन से, फिर बुध्दि से जाप करते हैं, फिर मौन जाप और फिर आत्मिक जाप करते हैं। इस अवस्था में केवल परमात्मा रह जाता है । उस आयाम में कौन नाम लेने वाला और कौन नामी जिसका नाम लिया जाता है - इसका भेद मिट जाता है और रह जाता है केवल परमात्मा ही ।

यह संत-सूफ़ियों की संस्कृति है जिसका प्रचार पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ और आजकल भी हो रहा है। परन्तु यह पुरानी संस्कृति है, नई नहीं है। पढ़े-लिखे व्यक्ति ज़ल्दी से किसी पर विश्वास नहीं करते और न ही करना चाहिए। हमारे पूज्य दादा गुरु (पूज्य रामचन्द्रजी महाराज) फ़रमाया करते थे कि हम जब बाज़ार में सौदा खरीदने जाते हैं तो जो चीज़ जहाँ अच्छी मिलता

है, सस्ती मिलती है, वहीं से लेते हैं । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि किसी को अपनाने से पहले वह उसकी ख़ूब जाँच पड़ताल करे । गुरु की पहले जाँच करनी चाहिए कि उसका आचरण शुद्ध है, उसकी रहनी-सहनी शास्त्रों के अनुकूल है । क्या वह जैसा बाहर से बोलता है वैसा भीतर से भी है, उसका व्यवहार भी वैसा है या नहीं ? और मुख्य बात है कि उसके पास बैठने से हमारे ह्रदय में परिवर्तन आता है या नहीं। हमें झूँठ बोलने की आदत है, बुराई करने की आदत है, छोटी-मोटी चोरो करने की आदत है, तो उसके (गुरु के) पास बैठने से हमारी ये बुराइयाँ कम होती हैं या नहीं ? क्या हम दुःख में अत्यन्त दुखी और सुख में अत्यन्त सुखी हो जाते हैं ? यदि ऐसा है तो यह तो साधारण मनुष्य की ही स्थिति है। ऐसा नहीं करना चाहिए कि यदि दो-चार व्यक्ति दीक्षा ले रहे हैं तो आप भी लाइन में खड़े हो जाएँ कि हमें भी नाम दे दें ।

ऐसे महापुरुष की सेवा और सत्संग में जाकर, भगवान् कृष्ण जैसा कहते हैं - सुख-दुःख आया तो क्या हम सम-अवस्था में, आत्म-स्थिति में रह पाते हैं ? यदि हम विचलित होते हैं हमें सत्संग का पूरा लाभ अभी नहीं मिला । या तो हमारे में कमी है या या हमारे गुरु में कमी है । व्यक्ति के लिए वेदों में, शास्त्रों में, उपनिषदों में जो सद्गुण बताये गए हैं यदि सत्संग में आकर वे गुण हममें प्रकाशित नहीं होते, तो सत्संग में आने का कोई फ़ायदा, कोई मायना नहीं। यही भाव पूज्य गुरु महाराज ने व्यक्त किया है ।

जब सत्संग ख़त्म होता है तो हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि ' सबका भला करो भगवान ' इसका क्या मतलब है।? क्या यह प्रार्थना ईश्वर तक जाएगी ? हमारी यह प्रार्थना ईश्वर के पास तभी जाएगी जब हम इस प्रार्थना को अपने व्यवहार में उतारेंगे । हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारी बुद्धि, हमारी सम्पत्ति जब सबके भले में खर्च होगी। तब यह प्रार्थना स्वीकार होगी अन्यथा यह एक रिवाज़ मात्र बन कर रह जायेगी। सबका भला करना प्रभु के जिम्मे है पर यह हमारा भी कर्तव्य है। क्या हम अपने व्यवहार में, वाणी में, विचार में, हाथ-पैरों से सबका भला करते हैं ? यही तो गीता का उपदेश है, कर्म करने का सिद्धांत है । व्यक्ति को अपना सब कुछ न्योछावर कर देना है, सँसार को सुखी बनाने के लिए। सँसार का सुख पहले, अपना सुख बाद में - तभी तो वह निस्वार्थी होगा, स्वार्थी नहीं जो केवल अपने सुख की ही बात सोचता है । भगवान कहते हैं अपने कर्म में स्वार्थ का त्याग करो । जब हम औरों का भला

करेंगे तभी तो हमारे अपने स्वार्थ कम होंगे । यदि सारा विश्व ऐसा करे तो पूरे विश्व में शांति ही शांति हो जाय । इस वक़्त क्या हो रहा है, सब देख रहे हैं। अख़बारों की हेड-लाइन्स पढ़ कर दिल काँप उठता है। इस सबके पीछे क्या है ? निजी स्वार्थ, घोर लिप्सा और अहँकार । ख़ैर, साधको को अपने जीवन संतों के उपदेशों के अनुसार बनाना चाहिए। संतों का जीवन शास्त्रों के अनुसार होता है, शास्त्रों के प्रतिकूल नहीं । कोई भी संत ईश्वर की सत्यता के प्रतिकूल नहीं जायेगा । इसलिए उसके उपदेश को मानना हमारा धर्म हो जाता है । परन्तु खेद है, हम बातें तो बहुत सी करते हैं परन्तु हमारा व्यावहारिक जीवन हमारे आदर्शों के अनुरूप नहीं होता है ।

परमार्थी तो सर्वप्रथम यह प्रयास करें कि कोई सच्चा गुरु मिल जाए जिससे उसे सच्ची विद्या प्राप्त हो सके । यही सरस्वती जी की पूजा का प्रसाद या वरदान है । सच्चा ज्ञान यही है कि हम उनकी सेवा करें, और उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर अपना जीवन सफल करें । यह सादा सा सिद्धांत ही संतमत है, जिसको सेवक भी अपनाता आया है और आप भी यदि इसे अपनाएंगे तो निश्चय ही लाभ होगा । इस रास्ते में ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि वह चाहे जिस महापुरुष के पास जाये, जिस उपनिषद या धर्मग्रंथ को पढ़े। वास्तव में यह रास्ता मौन का है । यहाँ कम से कम शब्दों का उपयोग किया जाता है। सभी गुरुजन यही कहते हैं कि कम बोलना चाहिए, कम खाना चाहिए और कम ही सोना चाहिए । वास्तव में सत्संग साधना की यह विद्या मौन की ही है। पहले मन का, तत्पश्चात आत्मा का मौन होता है। यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। आप जैसे साधना करते हैं, करिये। परमात्मा के जिस रूप को आप मानते हैं, जिसमें आपका विश्वास है, उसी के ध्यान में बैठें। फिर यह ख्याल करें कि परमात्मा उस रूप के समीप में आप बैठे हैं और उनकी कृपा उनके ह्रदय में से निकलकर आपके शरीर में प्रवेश कर रही है। ईश्वर का जो नाम आप लेते है, मन ही मन वह नाम लेते रहिये। शरीर बिलकुल ढीला हो जैसे कपड़ा टंगा होता है खूंटी पर। जितना शरीर ढीला होगा, उतना ही व्यक्ति साधना में आराम से जमता है और लीन होता है। शरीर भी ढीला हो, मन भी ढीला हो, बुद्धि में तर्क-वितर्क बिलकुल न हो, बस प्रगाढ़ निर्मल प्रेम का, श्रद्धा और समर्पण का भाव होना चाहिए कि हम ईश्वर-प्रसादी ग्रहण कर रहे हैं। हमें गुरु-कृपा का आभास होने लगेगा।

गुरुदेव सबका कल्याण करें। राम सन्देश :फरवरी १९९४

मानव जीवन में ईश्वरीय गुण सीखें : परमात्मा से साक्षात्कार करें

मेरा निंदक मेरा सबसे बड़ा हितेषी है, उसको अपने आंगन में बिठा दें ताकि वो मेरे दोष देखता रहे और मैं उससे अपने दोषों को सुनकर उन दोषों से निवृत होने की कोशिश करता रहूँ।

हमें कोई बुरी बात कहता है तो हमें बड़ा दुःख लगता है परन्तु कबीर साहब के शब्दों में इतनी गहराई है, वे फिर कहते हैं - ***" निंदों, निंदों, मुझे निंदों "*** बार-बार कहते हैं। उससे मैं जागूँगा। कुम्भकर्ण की जो निद्रा है उसी में प्रत्येक व्यक्ति सोया हुआ है। कुम्भकर्ण तो छह महीने सोता था, हम जीवन पर्यन्त सोये रहते हैं। तो हमें कौन जगायेगा ? वह जो हमारी आलोचना करता है, हमारी प्रतिक्रिया करता है, हमारी निंदा करता है।। वही वास्तव में हमारा हितेषी है। हितेषी गुरु को कहते हैं। वही हमारा सच्चा मित्र है। तो भीतर में घुस कर देखें कि हमारे में कौन-कौन सी कमियां हैं। हमें उन कमियों से निवृत होने के लिए प्रयास करते रहना चाहिए। ईश्वर का आश्रय लें, गुरु का आश्रय लें, भीतर में आत्मा है, उसका आश्रय लें। सारा दिन बुराइओं से दूर रहने की कोशिश करते रहना चाहिए। यही परमार्थ का सीधा-सीधा रास्ता है। बाकी जितना है सब विस्तार है ।

आपकी इच्छा है जो भी रास्ता आप अपनायें, परन्तु करना यह ज़रूर पड़ेगा कि हमारे भीतर में जो मलीनता है उससे मुक्त होना ही पड़ेगा । जब तक व्यक्ति के कर्म और व्यवहार में ये मलीनता है, मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटेगा । कोई दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, महाभारत हमारे सामने है, गीता हमारे सामने है । युधिष्ठर को भी केवल परलोक ही मिला, उसे भी मोक्ष नहीं मिला। मोक्ष बड़ी दूर है। जब युधिष्ठर जैसे व्यक्तियों को भी केवल परलोक ही था तो हमारी क्या स्थिति होगी - हमें यह सोचना चाहिए । आप कहेंगे कि रास्ता बड़ा कठिन है। हाँ, महनत न करने वालों के लिए बड़ा कठिन है। परन्तु जिसने दृढ़ संकल्प कर लिया है उसके लिए कोई कठिन नहीं है। केवल एक ही बात करनी है कि भीतर में जो अहंकार है उसे ईश्वर के या गुरु के चरणों में अर्पण कर दें । अपनी मति को छोड़कर गुरु की सन्मति में चलना है ।

यही भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं। अर्जुन अपनी मति पर चलना चाहता है। वह विद्वान और बुद्धजीवी था। ये तो बड़ी कृपा थी अर्जुन पर भगवान की कि उसे इतना सुन्दर उपदेश दिया । अर्जुन पूछे जा रहा है, प्रश्न किये जा रहा है । भगवान कितने दयालु हैं, कितने कृपालु हैं, अपने मित्र अर्जुन के लिए उनके हृदय में कितनी मंगल कामनाएं हैं, सो वो थकते नहीं हैं, समझाये जा रहे हैं- उन्होंने अंत में जाकर यही कहा है कि ***- ' हे पार्थ, अब तुम कर्म, धर्म सब छोड़ो, आत्म समर्पण कर दो, अपनी इच्छा को मेरी इच्छा में मिला दो । मेरी इच्छा के अनुसार कर्तव्य परायण बनो और अपने कर्तव्य के साथ आसक्ति मत रखो ।'*** कितना सरल रास्ता बताया है उसे कि कर्म करते हुए भी अकर्मी हो जाये। गुरुवाणी में भी आता है कि कर्म करत हुए निरकामा' । इस प्रकार से कर्म करते जाएँ तो उस कर्म का संस्कार भी नहीं बनेगा। यानी कर्म, अकर्म और विकर्म भी यही है। तो साधारण तरीक़ा है, परन्तु चेतनता चाहिए, व्यक्ति को सचेत रहना चाहिए ।

उधर कर्म का जो फल है उसे ईश्वर के चरणों में अर्पण करदें। निष्काम कर्म के विषय में यही कहना है कि कर्म को प्रेम के साथ करो और वो प्रेम के साथ करते-करते आपका स्वभाव बन जायेगा जैसे सूरज का स्वभाव है, ईश्वर का स्वभाव है । सूरज सबको गर्मी देता है, सबको जीवन ज्योति प्रदान करता है परन्तु यह स्वयं नहीं जानता कि मैं क्या कर रहा हूँ। कर्म वह भी कर रहा है । ईश्वर भी इसी प्रकार कर्म कर रहा है। इसी प्रकार भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि वह भी इसी प्रकार कर्म करे । ' ***कर्म करते हुए भी कर्म न करना - अकर्मी बन जा ।'*** ये व्यवहार में बरतने से आएगा । किसी ने मुझे गलियां दीं, ठीक है - ये भी ईश्वर की तरफ़ से हुआ। ऐसे रहो कि जिसने गलियां दीं उसके साथ भी प्रेम करो, उसको भी ईश्वर रूप मानो। सूफ़ी संत फ़रीद जी कहते हैं - " जो तुम्हारी पिटाई करे तुम उसके घर जाकर उसके पाँव दबाओ।" यह अकर्म से एक चरण आगे है - ये विकर्म है। कर्म करें तो ऐसे करें कि सबको ईश्वर-रूप समझ कर करें और फिर कर्म करते -करते अकर्मी हो जाएँ यानी जो कर्म हो वह हमसे अपने आप हो ।

' ब्रह्म ज्ञानी पर उपकार ' - यानी ब्रह्म ज्ञानी को पता भी नहीं है परन्तु उसके हृदय से प्रेम झरना जैसे प्रवाहित होता रहता है इस प्रकार प्रेम निकलता है, प्रेम फैलता है और सबको शीतलता और शांति प्रदान करता है। सबका कल्याण तो प्रभु का विरद है, ये उनका

स्वभाव बना हुआ है । जब ऐसे कर्म करेंगे तो कर्म का जो फल है, कर्म का जो संस्कार है वो हमें नहीं छुएगा। और जो संस्कारों से अछूता हो गया वह मुक्त हो गया। गुरुजनो ने बड़ा सीधा सरल रास्ता बताया है कि कर्म से कैसे स्वतंत्र हो सकते हैं। कैसे मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं ।

महात्मा गाँधी ने गीता का अनुवाद, उसकी व्याख्या करते हुए उसका नाम रखा है - ***'अनासक्ति योग*** ' यानी मोह से मुक्ति का योग। हम सब पढ़ते हैं परन्तु हमसे ऐसा होता नहीं है। ये मन ऐसा बईमान है कि हमें करने नहीं देता। इसीलिए तो युधिष्ठर ने एक ही शब्द सीखा, ज़्यादा सीखने की ज़रूरत नहीं है। जो हमारे रोज़ के काम हैं वो सब काम हम निष्काम भाव से करें। दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए करें, फल की आकांक्षा न रखें, फल को बलिदान में दे दें। योग रुपी यज्ञ में और स्वतंत्र होकर रात को सोयें और याद नहीं रखें कि हमने सारा दिन क्या किया। किसी ने हमें बुरा कहा या किसी ने भला कहा या हमने कोई काम किया तो किसी बात की स्मृति हमें न रहे, कोई याद न रहे। हम जब बच्चो को दान देने के बारे में समझाते हैं तो उनसे कहते हैं कि खैरात देनी है तो ऐसे दो कि यदि दांया हाथ देता है तो बाएं हाथ को भी पता न चले। छोटी-छोटी बातें हैं जो हम बच्चों को समझाते हैं परन्तु हम लोग नहीं समझते ।

हम हर बात में अपने आप को फँसाते हैं। भगवान हमें अनासक्त करना चाहते हैं, मुक्त करना चाहते हैं, परन्तु हम मोह में फंसे रहते हैं । इसका यह मतलब नहीं कि हम सेवा न करें, माता-पिता की सेवा न करें, बीबी-बच्चों की सेवा न करें। परन्तु माता- पिता, बच्चो की सेवा करें जैसे यशोदा जी व नन्द जी कृष्ण जी की सेवा करते थे । पहले तो वे उनकी बच्चों की तरह सेवा करते थे परन्तु जब उनको पता चल गया कि ये तो भगवान हैं तो वे उनकी सेवा पूजा के रूप में करते थे। तो माता-पिता बच्चों को प्रभु का रूप ही समझें ।बच्चे अगर माता-पिता को परमात्मा का रूप समझें तो दुःख कहाँ है। सिर्फ अपने व्यवहार को बदलना है। आज विश्व में कितना दुःख है, कारण यही है कि माता, पिता, बच्चे एक दूसरे का विरोध करना चाहते हैं। यहां तक कि पति-पत्नी भी ऐसा ही स्वभाव रखते हैं। ऐसा परिवर्तन समय में आ रहा है कि हमारे जितने शास्त्र हैं, जितनी मान्यताएं हैं, दर्शन है - सब ख़तम होते चले जा रहे हैं ।

मनुष्य का मन जो है हम उसी मन के पीछे लग रहे हैं। मैं सुखी रहूँ चाहे सारा संसार दुखी रहे । हमें आदिकाल से समझाया गया है कि मन के गुलाम न होकर संतों का सा जीवन जियें । ये जितने यज्ञ हैं उनका भाव यही है कि हम सारे संसार को, केवल अपने बच्चों को ही नहीं, सारे संसार को ही अपना परिवार मानकर सारे संसार की सेवा करें और इस सेवा के साथ हमारी आसक्ति यानि कोई आशा न हो। किसी के साथ यदि हम भलाई करते हैं तो यह मत सोचें कि कोई हमें सलाम करेगा, इसे भूल जाइये ।

वैसे सारा काम प्रकृति करती है, परमात्मा कुछ नहीं करता । वह तो अकर्मी है । काम हो रहा है - उसके जो भी ज़रिये हैं यानी जो सूरज चाँद हैं या प्रकृति के और स्वरुप हैं - उनके द्वारा मनुष्य को भी वैसा ही बनना है । सबकी सेवा करते हुए बड़ा सरल बनना है। बच्चे कितने सरल होते हैं । जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं माँ-बाप उनसे उतना प्यार नहीं करते । छोटे शिशु को हर कोई गोद में लेना चाहता है । क्या चीज़ है बच्चे में ? बच्चे में सरलता है, उसमें रागद्वेष नहीं है, मेरा तेरा पन नहीं है। अपने भीतर में से मेरा तेरा पन निकालने के लिए लाखों में से कोई एक आदमी सफल होता है । जिसके ह्रदय से मैं और मेरापन खत्म हो जाता है। बच्चों में, शिशुओं में मैं और मेरापन का भाव होता ही नहीं । ऐसी सरलता सब मनुष्यों के ह्रदय में आनी चाहिए और उनके व्यवहार में विकसित होनी चाहिए। सरलता का गुण अपनाने वाले मनुष्य ही प्रभु का आलिंगन करते हैं। ये सरलता पुस्तकों के पढ़ने से नहीं आएगी । जिस पर गुरु की या ईश्वर की कृपा हो उसे ही यह सरलता प्राप्त होती है। बड़ा कठिन है बूढ़े से बच्चा बनना। ऐसे निश्छल सरल स्वरुप पर ही परमात्मा की कृपा होती है ।

मन तू ज्योति स्वरुप है

(परमसन्त डॉ. करतारसिंह जी महाराज)

" प्रकाश को रोकने वाले अपने द्वारा किये गए कर्मों के फल हैं जो जन्म-जन्मान्तरों से साथ चले आ रहे हैं । जितने ये हलके हैं, ये उतना ही ज़्यादा प्रकाश देंगे । आनन्द की प्राप्ति होगी और ज्ञान की भी । "

प्रत्येक जिज्ञासु को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व-जन्म के संस्कारों से मुक्त्त हो, और वर्तमान में भी इन्द्रियों का उचित प्रयोग करे। भोजन खायें, ध्यान रखें । नए कर्म जो करें, उनसे प्रभावित न हों । इनसे हमारे संस्कार बनते हैं। गीता में हमें यही उपदेश दिए गए हैं ।हम कोशिश करें, वर्तमान में रहें। भूतकाल को भुला दें और भविष्य की सोचे नहीं । जो जिज्ञासु सत्संग करते हैं उन्हें विचार करना चाहिए कि हमारे भीतर में अतीत का जो प्रभाव है, उसे कैसे त्यागें ताकि शरीर त्यागने से पहले हम पूर्ण निर्मल होकर जावें, स्वच्छ होकर जावें । जैसे गँगा स्नान करने जाते हैं या और नदियों में स्नान करने जाते हैं, महापुरुषों की चरण रज लेने जाते हैं, उसका भाव यह होता है कि हमारे अतीत का प्रभाव खत्म हो जाये ।

यदि वर्तमान में आपके कर्म अतीत के प्रभाव में रहे तो, आप मुझे क्षमा करेंगे, कि आप अपने जीवन-लक्ष्य के प्रति जागरूक नहीं हैं । मनन करें कि हम में कौन-कौन से अवगुण हैं तथा किस प्रकार से हम उन अवगुणों के प्रभाव से मुक्त्त हो सकें। हम वर्तमान में जो कर्म कर्म रहे हैं वे अतीत के प्रभाव से मुक्त्त हो। मृत व्यक्ति को कथा सुनाई जाती है, श्मशान में ले जाने से पहले उसको स्नान कराया जाता है, ताकि वह निर्मल हो जावे तथा अतीत से मुक्त्त हो जावे, आगे जाकर अपने अतीत की चिन्ता न करे, वर्तमान में कोशिश करे कि हम ईश्वर जैसा बन जायें ।

तू तू करता तू भया, मुझमें रहीं न हूँ,

आपा परका मिट गया, जित देखूँ तत तू ।

प्रतिक्षण सचेत रहना चाहिए । जाने से पहले अतीत के बोझ को खत्म कर देना है। निर्मल हो जायें। हम गलतियाँ करते हैं । बाद में सोचते हैं कि हम तो पढ़े- लिखे हैं, ऐसी गलती क्यों की ? सच्चा जिज्ञासु रोता है । ईश्वर के चरणों में प्रार्थना करता है । कहता है आगे से मैं ऐसा नहीं करूँगा। ऐसे विचार प्रतिक्षण हमारे साथ होने चाहिए। प्रतिक्षण हमारे ऊपर अतीत के विचारों का प्रभाव पड़ रहा है । हमारा जीवन-लक्ष्य यही है कि मरने से पहले हम निर्मल हो जावें । किसी प्रकार का राग-द्वेष हमारे मन में न रहे ।

वर्तमान में रहकर ही आपका मन निर्मल हो सकता है। आप सबका लक्ष्य है कि शरीर त्यागने से पहले निर्मल हो जायें । किन्तु, आप मुझे क्षमा करेंगे, आप प्रतिक्षण अपने मन पर अतीत का प्रभाव डालते जाते हैं। अतीत का यह बोझ हमारे सिर पर लदा रहता है। अतीत का बोझ हटाने पर ही आप वर्तमान में आनन्द में रहेंगे और भविष्य में भी आनन्द में रहेंगे ।

' मन तू ज्योति स्वरुप है, अपना मूल पहचान '

अपने भीतर में झांकें । चित्त पर निगाह रखें । बुरी बातों, तम, रज से मुक्त होकर सत में स्थित रहें । दूसरे जन्म में इन संस्कारों को भोगने की इच्छा न रहे । इससे एक विशेष प्रसन्नता होती है । जिस मनुष्य के मन में अतीत की बातें नहीं रहतीं, ऐसा व्यक्ति अति प्रसन्न रहता है जो वर्तमान में रहता है । कोई उसकी बुराई करने वाला नहीं होता ।

संक्षेप में, आपके कर्मों से, आपके व्यवहार से, कोई नया संस्कार न बने । पिछले संस्कार धुल जायें। अतीत को भूल जायें, वर्तमान में रहें । आपने जो कर्म किया है उसका कर्मफल भूल जायें । भूलना अति कठिन है लेकिन आपको अपना भविष्य सोचना है । आप आपने पर नियंत्रण रखें। अतीत को छोड़े, वर्तमान में रहें। अतीत के कर्म और उनके कर्मफल से बिलकुल प्रभावित न हों ।

वर्तमान में रहने का तरीक़ा सोचें। इसके लिए अंग्रेजी में कहते हैं - Forgive and forget (क्षमा करो, भूल जाओ) किसी ने आपकी बुराई की है तो उसको क्षमा कर दें । क्षमा के साथ बुराई की उस घटना को भी भूल जायें । हर वक़्त अपने मन को साफ़ करते जायें। भविष्य की चिन्ता न करें । वर्तमान में रहें, इस क्षण में रहें। भीतर में कोई राग-द्वेष न हो ।

तू ही तू है । ईश्वर सबका है । दूसरों को दोष न दीजिये । अपने दोषों को अपने भीतर में देखें और उनसे एक-एक करके मुक्त होवें । शरीर त्यागने से पहले आप भीतर में निर्मल हो जावें। न कोई राग वृत्ति है, न द्वेष वृत्ति, न कोई आशा है न कोई इच्छा है ।

महापुरुष कहते हैं, " हे जीव ! तेरा वही रूप है जो परमात्मा का है । अपने असली रूप को पहचान। तू कौन है ? महर्षि रमण की किताब है । उसमें बताया है कि ' मैं कौन' हूँ । उसमें यह नहीं बताया कि 'तू कौन है' । पूज्य गुरुदेव उस पुस्तक को सुना करते थे। छोटी सी पुस्तक है ।

संक्षेप में, शरीर त्यागने से पहले अपने को पहचानें। क्षमा करें और भूल जायें । (Forgive and forget)

हम हर वक़्त चित्त पर बोझ उठाये रहते हैं । यह व्यक्ति ऐसा करता है । वह व्यक्ति वैसा करता है । कहना नहीं मानता, दुर्व्यवहार करता है, आदि । सारा दिन हमारा मन चलता रहता है। इन बातों से अपने को मुक्त करें और वर्तमान में रहने का साधन करें ।

कल क्या होगा, इसकी चिन्ता न करें । जो हो चुका उसे भूल जायें। सबको क्षमा कर दें । वर्तमान में जियें । इसमें आनन्द आएगा। इसमें न राग है, न द्वेष है । परमात्मा का रूप है - सत्यम, शिवम, सुन्दरम ।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें ।

राम सन्देश : मार्च-अप्रैल, २०१०

संतों की महिमा और हमारे गुरुजन

हमारी पुण्यभूमि की एक विलक्षण विशेषता यह है कि इस पवित्र धरती पर जितने सारे धर्मावतारों, मत-प्रवर्तकों, संतों और भक्तों ने अपनी ईश्वर-प्रेम में सरोबोर जीवन लीला की है, सम्भवतः सारे विश्व भर में कहीं भी इतनी आधात्मिक विभूतियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ । शायद इसीलिए भारत को 'देवभूमि' कहा गया है । पद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में तो संत-भक्तों की ऐसी बाढ़ सी आयी कि सारा देश ही भक्ति-आंदोलन से आप्लावित हो गया और दिशा-दिशा में संतवाणी की भावभीनी गूँज सुनाई देने लगी । उन्हीं महापुरुषों में भक्त रैदास (रविदास जी) का अपना विशेष स्थान है ।

रविदास जी जूते बनाने का काम करते थे और चमड़ा भिगोने के लिए एक मिटटी का पात्र जल भर कर रख लेते थे । राजा पीपा जी उनके भक्त थे। राजा पीपा पर रविदास जी की विशेष कृपा उमड़ी और उन्होंने उनसे कहा कि तुम यह पानी प्रसाद के रूप में पी लो । राजा को घृणा का आभास हुआ उन्होंने वह पानी अपनर मुख में डालने के बजाय अपनर वस्त्रों पर लुढ़का लिया ।

राजा ने घर आकर अपना चोग़ा (वस्त्र) धोबी को धोने के लिए दे दिया । धोबी ने देखा कि दाग़ सहज नहीं छूट रहे हैं, कुछ मीठी वस्तु चिपकती सी लगती है, अतः उसने उन्हें चाट-चाट कर सफ़ाई करनी शुरू कर दी। सोचने लगा कि चोग़ा इतना निर्मल और उज्ज्वल धोकर भेजूं कि राजा नाराज़ न हों । जितना वह उस उस चोग़े को चाटता, उतना ही उसके भीतर में परिवर्तन होता जाता। वह रविदास जी के मिटटी के कुंडे का पानी चाटकर निर्मल हो गए और पूर्ण साधु बन गए।

राजा को पता चला तो उसने साधु को बुलवाया। धोबी ने सारी बात कह सुनाई। राजा को वैराग्य हो गया । उसने राज-पाट सब कुछ त्याग दिया और पुनः रविदास जी के चरणों में गए और उनसे भीख मांगी कि वे उसे जूतों का पानी पुनः।पिला दें। रविदास जी बोले कि, " वह अवसर तो चला गया। एक क्षण होता है जब जिज्ञासु अपना पात्र साफ़ करके उमंग के साथ चरणों में जाता है और गुरु भी खुश हों, तो ये दोनों बातें मिलकर जिज्ञासु का काम

बन जाता है। अब तुम महनत करो । " राजा ने सब कुछ त्याग ही दिया था, फ़क़ीर बन गए। मेहनत करके बड़ी उच्च पदवी पर पहुंचे । असर तो हुआ परन्तु जो तुरंत असर होने वाला था वह नहीं हो सका। बाद में मेहनत करनी पड़ी और वे भक्त पीपा के नाम से मशहूर हुए। आपकी वाणी गुरु ग्रंथ साहब में भी पाई जाती है ।

इस प्रकार के संतों की महिमा वर्णनातीत है । भक्त-कवि अमीर खुसरो अपने पीर साहब, हज़रत मोईनुद्दीन चिश्ती के दर्शनों के लिए जा रहे हैं, साथ में बड़ा भारी क़ाफ़िला है जिस पर लाखों-करोड़ों रूपये का सामान लदा है । रास्ते में हज़रत को क़व्वाल मिलते हैं। खुसरो पूछते हैं कि, " पीर साहब से आपको क्या बख्शीस मिली, कुछ बताइये, उन्होंने आपको क्या प्रसादी दी ?" क़व्वाल पैसे के पीर होते हैं।, ईश्वर पूजा के नहीं। वह कहते हैं कि, " साहब क्या कहें, लड़की की शादी है, हमने हज़रत से भिक्षा मांगी, उन्होंने हमें टूटे जूते दे दिए हैं। उधर ख़ुसरो उत्सुकता और व्याकुलता से कहते हैं कि, " ये जूते मुझे दे दो ।" उन्होंने जूते लेकर अपने सिर पर रख लिए और कहा कि, " यह सारे क़ाफ़िले का सामान हाज़िर है, जितना चाहे आप ले लीजिये । आपका बहुत अहसान है मुझ पर कि आपके द्वारा मुझे मेरे पीर के जूते मिल सके ।" यह तो सच्चा जिज्ञासु ही जनता है कि संत की कृपा, संत की वस्तु, संत की प्रसादी का क्या महत्व है ।

गुरु अंगददेव जी वैष्णों देवी की यात्रा पर गए हैं । रास्ते में पता चला कि एक महान संत यहां रहते हैं । उन्होंने अपने मित्र से कहा कि, " आप आगे बढ़ो, उन संत के दर्शन करके मैं भी पीछे-पीछे आता हूँ ।" अमीर-ज़ादे हैं, घोड़े पर सवार थे, घोड़े पर ही गए। गुरु नानक देव जी के घर पर पहुंचे। रास्ते मैं गुरुदेव मिले। अंगदेवजी ने पूछा कि, " गुरुदेव कहाँ रहते हैं ।" गुरुदेव कहते हैं, " चलो, हम बताते हैं ।" अंगददेव जी घोड़े पर सवार हैं और गुरुदेव लगाम पकड़ कर आगे-आगे चलते हैं । आगे जाकर कहते हैं, "आप यहीं ठहरो" और स्वयं मकान के पिछले दरवाज़े से अंदर चले गए । अंगद देव जी ने द्वार खोला तो विस्मय में पड़ जाते हैं, यह तो वही संत बैठे हैं । कैसी महानता है, मुझे घोड़े पर बैठा रहने दिया और खुद लगाम पकड़े-पकड़े पैदल चलते रहे । बहुत लज्जित हुए । बैठ गए ।

गुरु नानकदेव जी ने पूछा, " आपका क्या नाम है ?" वह तो प्रतीक्षा में ही थे कि कब यह "मेरी मुराद" मेरे पास आता है । नाम बताया कि, "मेरा नाम है "लैना" ।

(लैना का मतलब है किसी से कुछ लेना है ।) तो गुरुदेव कहते हैं, " हमने देना है ।" यही पहला मिलन है और इसी में सब कुछ दे दिया । अपने साथ खेतों में ले गए हैं । गुरु नानकदेव जी पहले खेती किया करते थे । खेती काटी है, घास की गठरी बाँधी और उस बरखुरदार से कहा है कि इसे उठाकर घर ले चलो । घास में पानी है, उस रईसज़ादे ने कीमती रेशमी अचकन पहना हुआ है। गुरु माता कह रही हैं " यह आप क्या अन्याय कर रहे हैं । सारा कींचड़ बच्चे के कपड़ों पर लग रहा है ।" गुरुदेव कह रहे हैं - " यह गठरी घास की नहीं है, यह तो विश्व का भार इसके सिर पर रखा जा रहा है ।, इसे जगत की सेवा करनी है ।"

हमारे पूज्यनीय गुरुजन

यह है संत महिमा । यह तर्क से, व्याकरण से नहीं समझी जा सकती । यह तो परमात्मा की कृपा से किसी को अनुभव हो जाये तो वही समझ सकता है, अन्यथा हम कह सकते हैं की ये तो किस्से-कहानियां हैं । एक बालक दस-बारह साल का बारिश में भीगता हुआ आया है । बड़ी आंधी और तूफ़ान है । एक मौलवी साहब के कमरे के सामने से गुज़र कर जा रहा है । उन्होंने पूछा, " अरे नन्हे, इस ठंड की वारिश में इस तरह आना" जाओ, कपड़े बदल कर आओ। मैं अंगीठी जलाता हूँ ।" बालक इन शब्दों से प्रभावित हुआ । वह तुरंत ही कपड़े बदल कर बापस आ गया, अंगीठी जली हुई थी, मौलवी साहब ने अपनी रज़ाई बालक को उढ़ा दी । वह बालक कहता है कि रज़ाई ओढ़ते ही भीतर में न जाने क्या होने लगा । इतना आनंद जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था । वह बालक कौन था ? वह थे हमारे दादा गुरुदेव, पूज्य लाला जी, महात्मा श्री रामचंद्र जी महाराजा वह मौलवी साहब ही बाद में उनके गुरु बने। उन्होंने उसी दिन सब कुछ उस बालक, हमारे दादागुरु लालाजी महाराज को प्रदान कर दिया ।

यह किसकी समझ में आ सकता है । २० साल की आयु में मौलाना साहब ने पूज्य लालाजी महाराज को पूर्ण गुरु पदवी प्रदान कर दी थी । बीस-इक्कीस साल की आयु क्या होती है ? उसमें ही सब कुछ इज़ाज़तें दे दीं । जो कुछ उनके पास था, सब कुछ लालाजी को दे दिया, और कहा कि " जाओ, इसका विस्तार करो । जितनी अधिक सेवा करोगे, उतना ही अधिक तुम्हे लाभ होगा ।" उस बालक ने अपने गुरु से कुछ नहीं माँगा । आप सबने उनका जीवन चरित्र पढ़ा है । उन्होंने बहुत अधिक आर्थिक कठिनाइयां सहीं, परन्तु अपने गुरुदेव से

कभी कुछ नहीं माँगा । विश्व की सबसे बड़ी दौलत गुरु महाराज ने उनको प्रदान कर दी । जिसको ईश्वर मिल जाता है उसके लिए और क्या पाना शेष रह जाता है ?

यह संत मत की विशेषता है कि यह विद्या एक शरीर से दूसरे शरीर में, मन से मन में (सीना-ब-सीना) प्रवेश करती है । यहां तर्क नहीं सिखाया जाता, यहां प्रवचन नहीं दिए जाते । स्वतः ही परस्पर प्रेम उतपन्न हो जाता है तो काम हो जाता है । परन्तु सच्चे संत के पास यदि कोई व्यक्ति सच्ची लगन से जाता है तो वह व्यक्ति स्वयं संत स्वरूप ही हो जाता है । शर्त सिर्फ एक ही है कि योग्य पात्र हो और गुरु पूर्ण हो। यहां कुछ करने की ज़रूरत नहीं है । पूज्य लालाजी महाराज के छोटे भाई (जिनको पूज्य चाचा जी महाराज कहते थे) उनके पास लोग बैठते थे, किस्से-कहानी होते थे, वहां अपने-अपने स्वप्न बताये जाते थे, आँख भी बंद नहीं करते-कराते थे ।

इन्हीं बातों में, किस्से-कहानियों में, चाचा जी महाराज आध्यात्मिक विद्या बांटा करते थे और जिज्ञासु कहा करते थे कि, " इन क़िस्से कहानियों के सुनने में पता नहीं हमारे मन की अवस्था क्या हो जाती है ? हम समझते थे कि जैसे हम अमृत पी रहे हों, हम ईश्वर के चरणों में बैठे हों ।" जितनी भी मेहनत है, साधारण व्यक्तियों के लिए है। सूक्ष्म वृत्ति के व्यक्तियों के लिए जो तैयार हो गए हैं और ईश्वर कृपा से जिनको पूर्ण संत मिल गए हों उनको कुछ करना धरना नहीं होता ।

समाज में अनुशासनहीनता न फैल जाय इसलिए पूज्य दादा गुरु ने यह प्रचलित किया कि साधना अवश्य की जानी चाहिए, यम और नियम का पालन अवश्य किया जाना चाहिए । परन्तु सूक्ष्म वृत्ति के लोगों के लिए यह अनिवार्य नहीं है । पूज्य गुरुदेव महाराज ने कुछ नहीं किया । वे भी बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में पूर्ण आचार्य बन गए थे। जो भी एक बार दरवार में आ गया, वह ख़ाली नहीं गया । भले ही उसको समय लगा हो, परन्तु ख़ाली नहीं गया ।

जितना गुरु महाराज करुणा के सागर थे, उतना ही वे अनुशासन प्रिय थे । अनुशासन हीनता वे बर्दाश्त नहीं करते थे । उत्तर प्रदेश के एक आयकर एडवोकेट जनरल थे, बड़े नज़दीकी थे पूज्य लालाजी महाराज के । उनसे कुछ ग़लती हो गयी। पूज्य गुरु महाराज ने

बहुत कोशिश की, लालाजी महाराज के पाँव पकड़े परन्तु लालाजी ने माफ़ नहीं किया। उनका कहना था कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है ।

हमारे यहां का तप, साधन, आत्मिक अभ्यास

गुरुदेव कहा करते थे कि औरों का तप है धूप में बैठना, अग्नि के समीप बैठना और भी अन्य प्रकार के व्रत साधन करना परन्तु हमारे यहां का तप यह है कि हम स्व-निरीक्षण करते हुए अपने दोषों को हटाएँ । इन दोषों की निवृति के उपाय करना, हमारे यहां का तप है। लोग हमें गाली दें, हमारी बुराई करें और हम उसे सहन करें - यह है हमारे यहां का तप। यह नहीं कि किसी ने कोई साधारण सी अप्रिय बात की और हम आजीवन उसके शत्रु बन गए । यह हमारे यहां का साधन नहीं है । हमारे यहां का साधन है - सहनशीलता, संतोष । ये गुण तभी आयेंगे जब हमारे भीतर में क्षमा का भाव होगा । हिमारे यहां हम दूसरों के दोषों को नहीं देखते हैं, उनके गुणों को देखते हैं । दोष और गुण तो सभी में होते हैं। यदि साधक की वृत्ति दोष देखने की है तो वह साधक नहीं है । सच्चे जिज्ञासु का तो स्वभाव होता है और वह सोचता है कि शायद मेरी ही ग़लती होगी जिसके कारण से मुझे दूसरे की ग़लती दीखती है । और वास्तविकता यही है । पूज्य लाला जी महाराज यही कहा करते थे कि हमें दूसरे की ग़लती इसलिए दीखती है क्योकि वह ग़लती हमारे भीतर भी है । एक बार चाचा जी से अपने अफ़सर के प्रति कुछ ग़लती सी हो गयी । अफ़सर ने बहुत भला-बुरा कहा। चाचा जी ने भी कुछ क्रोध में प्रतिक्रिया की । वह अफ़सर बीमार पड़ गया। पूज्य लालाजी बहुत नाराज़ हुए, घर से निकाल दिया । छोटे भाई थे, राम-लक्ष्मण की तरह, बड़ा स्नेह था एक दूसरे के लिए, उन्होंने उन्हें याद दिलाया, समझाया कि हमारे यहां की तपस्या है लानतें सुनना, सहन करना, प्रतिक्रिया नहीं करना। किसी को श्राप दे देना - यह हमारे यहां का तरीक़ा नहीं है । फिर पूज्य चाचा जी ने उस अफ़सर से माफ़ी मांगी ।

भंडारे में आने का लाभ

भंडारे में हम सब एकत्र होते हैं - किस लिए ? इसलिए कि यहां इस यज्ञ में आकर हम अपनी त्रुटियों को पूज्य गुरु महाराज के चरणों में अर्पण करें। हमें यहां से प्राप्त क्या होता

है ? इस यज्ञ की अग्नि में जो प्रकाश होता है उसकी प्रेरणा से, उसकी शक्ति से हमें जनता की सेवा करनी है। चाहे कम, चाहे अधिक करनी होती है, परन्तु स्वभाव तो बनाना ही होता है। हम यहाँ प्रेम, पवित्रता व निर्मलता के लिए प्रार्थना करते हैं। अगर हम ऐसा नहीं करते तो हमारा यहाँ आना बेकार है । यह तो ऐसा हो गया जैसे कि किसी जगह की सैर कर आये, खाना वगैरह खा-पी आये। यहाँ आकर, इस यज्ञ में हम सबको स्व-निरीक्षण करते रहना चाहिए । अपनी ग़लतियों को छोड़ने की कोशिश करनी चाहिए। गलतियां छूटती देरी से हैं परन्तु कोशिश लगातार करनी चाहिए ।

पुराने ज़माने में जब लोग तीर्थ यात्रा करने जाते थे तो अपने स्वाद को क़ाबू करने के लिए उन्हें जो वस्तु खाने की सबसे अच्छी लगती थी उसे वहां जाकर छोड़ देते थे । यह नहीं कि जो वस्तु अच्छी नहीं लगती उसे छोड़ दिया। बुज़ुर्गों ने जो रिवाज़ बनाये थे, वे ग़लत नहीं थे, उनके पीछे विज्ञानं था, सत्यता थी ।

हमें त्याग करना है, त्याग करने का तरीक़ा सीखना है । पूज्य लालाजी महाराज की जीवनी पढ़ें । उन्होंने कितना त्याग किया है ? वे त्याग की मूर्ती थे, पूर्ण तपस्वी थे। कैसा संतोष था। निरंतर भीतर का स्नान करते थे । परमात्मा के चरणों में पूर्ण समर्पण था, तभी तो वह दूसरों से कहते थे कि यम और नियम का पालन करो। हमारा मन पत्थर की तरह कठोर है । इस कठोरता को ख़त्म करने के लिए पूज्य लालाजी महाराज ने पाँच मराकबे (साधन) बताये हैं । हम उन्हें पढ़ लेते हैं, सुन लेते हैं परन्तु अभ्यास कितना करते हैं ?

करुणा के लिए उन्होंने महात्मा बुद्ध का मराकबा बग्ताया है कि ख़्याल से देखो कि अस्पताल में कैसे दुखी लोग पड़े हैं, संसार में लोग पारिवारिक जीवन में कैसे दुखी हैं, जेलों में लोग सड़ रहे हैं और किस तरह लोग अन्य कठिनाइयों में फंसे हैं। यह चित्रण अपने मन पर खेंचिये और लोगों की मुक्ति व सुख के लिए प्रयास और प्रार्थना कीजिये। धीरे-धीरे करुणा आ जाएगी । जिस व्यक्ति के भीतर में करुणा नहीं, दया नहीं, सरलता नहीं, लचक नहीं, जो शीशे की तरह टूट नहीं जाता, वैसे कठोर ह्रदय से वह साधना करने का अधिकारी नहीं है । यहाँ तो ऐसा दिल चाहिए जो दूसरे का दुःख देखकर जब तक उसका दुःख दूर न करदे चैन न पाए । संत में वही गुण होते हैं जो परमात्मा में होते हैं। परमात्मा भी जब किसी पर प्रसन्न होते हैं तो

उसकी थोड़ी सी साधना से संतुष्ट हो जाते हैं। संत रूप में आकर प्रसादी प्रदान करते हैं । उस प्रसादी को ही ' गुरु प्रसादी ' कहा गया है । हम लोग 'गुरु प्रसादी' शब्द रोज़ पढ़ते हैं परन्तु इसकी वास्तविकता नहीं समझते । जिसको सच्चा गुरु या संत मिल जाये और उसकी प्रसन्नता मिल जाये उसको तो सारा जहां मिल जाता है ।

खोज जारी रहनी चाहिए कि हमें कोई सच्चा गुरु मिले और हम उसका सत्संग करें और उसकी सेवा करें । उसकी सेवा क्या है - उसके आदेशों का पालन करना । हाथ-पाँव की सेवा या रुपये-पैसे की सेवा का इतना महत्व नहीं है जितना कि अपने इष्टदेव के आदेशों का पालन करने का है। गुरु आपको दीक्षा देते समय क्या संकल्प लेते हैं आपसे, कि धर्म का जीवन व्यतीत करने का भरसक प्रयास करेंगे । यही करना है। संत का संग करें और उसके बताये हुए रास्ते पर चलने का प्रयास करें। इसी से आप मंज़िले मक़सूद (इच्छित लक्ष्य) यानी अपने ध्येय पर पहुंच जायेंगे । बड़ा सरल रास्ता है । कोई तप नहीं करना, कोई शरीर को, मन को, दुःख नहीं पहुँचाना है, घर से भागना नहीं है । अधिक से अधिक जितना मिले अपने इष्टदेव का सत्संग करना चाहिए । सतसंग शारीरिक भी होता है, मानसिक भी होता है। मानसिक संग से ज़्यादा लाभ होता है । जिनको गुरु से प्यार होता है, उनसे गुरु भी प्यार करता है । उन्हें गुरु सदैव मानसिक तौर पर अपने समीप रखता है। मां-बाप जैसे पालन-पोषण से कहीं अधिक गुरु अपने नज़दीकी प्रिय शिष्यों की देखभाल करता है ।

पूज्य गुरुदेव के समय में मुझे बाहर अधिक जाना पड़ता था । मैं भूल जाऊं तो भूल जाऊं, उनकी कृपा मुझे नितान्त बरसती हुई मिलती थी । मुझे अनुभव होता था कि वह लगातार मेरे नज़दीक हैं और उनकी कृपा मुझ पर बरस रही है। एक बार उन्होंने कहा (और चार व्यक्तियों के नाम भी लिए) कि, ' जब भी हम किसी व्यक्ति को तवज्जोह देते हैं तो इन चार व्यक्तियों को हम सामने रख लेते हैं।" वह उनको अपनी तवज्जोह में सम्मिलित कर लेते थे। प्रत्येक गुरु का काम है कि वह सेवा करे, चौबीस घंटे प्रार्थना करते रहना चाहिए कि हे प्रभु ! इन भाइयों पर कृपा करें। और दीनता से प्रार्थना करनी है। अपने ऊपर कुछ न लेते हुए कि मैं करता हूँ, इस सेवा का श्रेय गुरु या परमात्मा को ही देना है और होता भी यही है ।

राम सन्देश : अक्टूबर १९९१

सरलता, सत्संग और सेवा - श्रेष्ठ साधना

हर परमार्थी को तीन बातों का विशेष रूप से पालन करना होता है - पहली बात है सरलता, दूसरी सत्संग और तीसरी सेवा। हम जितने भी स्त्री-पुरुष हैं सबके मन में कुछ है, व ज़वान पर कुछ है तथा व्यवहार में कुछ और है । हम भीतर बाहर एक नहीं हैं। भले ही हम परमार्थी हैं पर व्यवहार में स्वार्थी हैं । भगवान कृष्ण की हमारे लिए एक महान देन है कि उन्होंने अर्जुन को प्रतीक बनाकर हमें यह सिखाया है कि हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए । मुख्य बात कर्म की जो भगवान ने बताई है वह यह है कि स्वार्थ को तो प्रेम यज्ञ में आहुति बना कर डाल दो । व्यवहार ऐसा होना चाहिए जैसा महात्मा गाँधी जी ने अपने शब्दों में कहा है, "यदि कोई ग्राहक आपकी दुकान पर आता है तो उसको ग्राहक मत समझो, ईश्वर समझो । वो व्यक्ति वास्तव में ईश्वर ही है, ऐसा मानकर आप जिस प्रकार से ईश्वर की सेवा करेंगे, उसी प्रकार उसको महान अतिथि समझकर, अपना इष्ट समझकर उसकी सेवा करो। उसका शोषण नहीं करो। अपने स्वार्थ के कारण समाज का शोषण मत करो। अपने कर्म को, अपने व्यवहार को सेवा का रूप दो । गाँधी जी गीता के पुजारी थे, भगवान के भक्त थे ।

आदिकाल से संतों ने, महापुरुषों ने, हमें जताया है कि, " ऐ तुच्छ मनुष्य तू स्वार्थी है। पिछले जन्मों के कारण वर्तमान जन्म में तू स्वार्थ का व्यवहार कर रहा है। " हम जो यज्ञ करते हैं वह सबके भले के लिए ही करते हैं। यह एक साधना है स्वार्थ को छोड़ने की । उस यज्ञ में हम स्वार्थ की आहुति डालते हैं । दार्शनिक मनुष्य शास्त्र पढ़ता है, बातें करता है लेकिन व्यवहार में वैसा बनता नहीं है। व्यवहार और साधना में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है पर हम अपने व्यवहार और साधना में अन्तर रखते हैं और इसलिए दुखी होते हैं ।

लोग कहते हैं कि हम क्या करें, इनकम टेक्स की चोरी नहीं करेंगे तो भूखे मर जायेंगे। नम्बर दो का काम नहीं करें तो दुनियाँ में रह नहीं सकते । ये सब कमज़ोर आदमियों की बातें हैं । मान लेना चाहिए कि हम सब ग़लतियाँ करते हैं । लेकिन जिसको साधना करनी है उसे तो जीवन की बाज़ी लगाकर आना है । जिसके मुख से ऐसे वचन निकलते हैं, वह साधक नहीं है । तो चाहे हम गीता में देखें या रामायण और उपनिषदों में देखें सब में कर्मों पर विशेष ज़ोर दिया गया है । दो ही मुख्य साधन बताये गए हैं - ज्ञान का साधन या कर्म का साधन।

इन दोनों में से जो व्यक्ति कोई भी रास्ता नहीं अपनाता वह आलसी वृत्ति का है । वो साधना के इस पथ पर आने का अधिकारी नहीं है । महापुरुष कहते हैं कि हमारे कर्म सेवा का रूप लिए हों, ईश्वर की पूजा का रूप लिए हुए हों । हम स्व-निरीक्षण करें और देखें कि क्या हमारे कर्म साधना के अनुरूप हैं । बिलकुल नहीं । लोग कहते हैं हमें मन में बुरे विचार आते हैं । अपना स्व-निरीक्षण करो। साधना के लिए बलिदान देना होगा, त्याग करना होगा ।

भगवान कृष्ण ने ऐसे ही नहीं कहा कि त्याग करो, मन को काबू में करो । भगवान कहते हैं कि वायु भले ही मुट्ठी में बन्द हो जाये परन्तु मन काबू में नहीं होता, उसे काबू करना बड़ा कठिन है । बड़ी सत्यता है इसमें । हम में से कितनों ने अपने मन को काबू में किया है ? रास्ता वही है जो भगवान हमें बताते हैं। उन्होंने बड़े सादा शब्दों में अर्जुन को बताया है कि जब मन को वश में करना है तो पहले वैराग का साधन करो और उसका अभ्यास करो। इसमें बड़ा समय लग जाता है ।

सेवा से पहले सरलता मन में आनी चाहिए - सरलता जैसे शिशु की स्थिति होती है । वो न किसी से राग करता है न द्वेष । जो भी व्यक्ति उसे गोद में लेता है वो उससे प्यार करता है । प्यार लेता है और प्यार देता है। दोनों गुण उसमें हैं। आप प्यार करते हैं, उसका माथा चूमते हैं, वह भी आपका मुख चूमता है। आप थप्पड़ लगाते हैं, वह भी थप्पड़ लगाता है। उसके और हमारे व्यवहार में ऐसी सरलता होती है मानो रासलीला कर रहे हों। इस सरलता के लिए ही गीता का श्री गणेश किया गया है कि राग-द्वेष को छोड़ो। द्वंदों को छोड़ो। हम नहीं छोड़ते, बड़ा कठिन लगता है। तो हममें बच्चे जैसी सरलता आनी चाहिए अर्थात मन में कपट नहीं होना चाहिए, मन में किसी के प्रति घृणा नहीं होना चाहिए ।

मन में किसी का भय नहीं होना चाहिए। ये सरलता, ये गुण आते हैं महापुरुषों की सेवा में बैठकर, अपने जीवन का विश्लेषण करके। सनातन शास्त्रों को पढ़कर ये गुण आते हैं। दार्शनिक तौर पर तो ठीक है पर हम इन गुणों को अपने व्यवहार में नहीं ला पाते। इन्हें व्यवहार में कैसे अपना पायें - यह बड़ी समस्या है ।

हमारे पूज्य दादा गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फ़ातेजगढ़ में रहते थे, फरुखाबाद पास ही मैं पड़ता है । वहाँ एक मिशनरी अस्पताल था जहाँ नर्सें काम करती थीं । वे कोई वेतन

नहीं लेती थीं । खाने को सादा भोजन मिल जाता था और पहनने को दो जोड़ी सादा कपड़े, या कभी कोई काम पड़ गया तो दो चार रूपये मिल जाते थे। अन्यथा वे निशुल्क सेवा करती थीं और मरीज़ों के साथ ऐसा व्यवहार करती थीं जैसे देवी-देवता परलोक से आये हों । गुरु महाराज उनकी सेवा देखकर बहुत प्रभावित होते थे । अन्य अस्पतालों से तुलना करें तो पायेंगें कि उन अस्पतालों में व्यवहार कितना ख़राब है । दुर्व्यवहार से तंग आकर कई लोग तो प्रायः अस्पताल जाना ही छोड़ देते हैं । यदि वाकफियत न हो तो नए आदमी या गरीब आदमी को तो धक्के ही खाने पड़ते हैं ।

ऐसी ही एक विभूति हमारे देश में बाहर से आयीं थी । वे युगोस्लाविया की रहने वाली थीं । उन्हें ईश्वर ने भीतर से प्रेरणा दी कि तुम भारत जाओ और बंगाल प्रान्त में जाकर सेवा करो। उन्होंने भूगोल नहीं पढ़ा था, उन्हें नहीं मालूम था कि भारत कहाँ है । उन्होंने अपने इष्टदेव से प्रार्थना की कि वो उन्हें शक्ति दें और उनका मार्गदर्शन करें। तब वह १४-१५ साल की थीं और हमारे देश की भाषा नहीं जानती थीं । वो भारत आयीं और बंगाल में कलकत्ता पहुँचीं । कुछ साल उन्होंने बंगाली भाषा और लिपि को पढ़ा । तत्पश्चात कलकत्ते के एक मशहूर स्कूल लोरेटो कान्वेंट में पढ़ीं । इसके बाद इसी स्कूल में बंगाली पढ़ाने के लिए अध्यापिका भी नियुक्त हुईं ।

उसके कुछ समय पश्चात उनको पुनः भीतर से आवाज़ आयी कि जिस काम को करने के लिए वो भारत आयीं थीं, वह काम करें । उस वक़्त बंगाल की जो स्थिति थी उसको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। हमारे यहां सबसे ज़्यादा वेश्यायें कलकत्ते में ही मिलती हैं । सबसे ज़्यादा गरीबी भी वहीं है । कुंवारी लड़कियाँ गलती कर बैठती थीं और अपने बच्चों को सड़कों पर छोड़ जाती थीं । इनकी संख्या बहुत थी, और भी बहुत सा दुराचार था । कुष्ठ रोग से पीड़ित भिखारी थे जिनको समाज हाथ नहीं लगाता था । कुष्ठ रोग तब संक्रामक माना जाता था । यदि संतान को यह रोग हो जाता था तो माता-पिता उसे भी घर से बाहर निकाल देते थे। उनकों नौकरी नहीं मिलती थी । भिक्षा माँगकर वे अपना गुज़ारा करते थे ।

इनको ईश्वरीय आवाज़ आयी कि ऐसे लोगों की सेवा करो जिनको समाज तिरस्कृत समझता है, हाथ ही नहीं लगाता । तब उन्होंने उस स्कूल के प्रिंसिपल से आज्ञा माँगी, आँखों से

आंसुओं की धारा बह निकली । प्रिंसिपल वहीं का रहने वाला था सो उसने प्रभावित होकर उन्हें आज्ञा दे दी । इन्होने पहले सेवाधाम बनाया । निशुल्क सेवा करती थीं । केवल पाँच रुपये जेब में थे जब वे स्कूल से आयीं थीं । यही सेविका बाद में मदर टेरेसा कहलायीं जिन्हें देश की श्रेष्ठतम उपाधि - भारत-रत्न तथा विश्व के सर्वोच्च नोबेल पुरुस्कार से विभूषित किया गया ।

उन्होंने घास-फूंस की एक झोपडी बनाई । उनके पास जो पाँच रुपये थे वो उसी पर लगा दिए । सड़क से पहले पांच व्यक्ति जो दम तोड़ रहे थे, उन्हें उठाकर लायीं । वे भी चकित हो गए कि हम तो मर रहे हैं और ये हमें उठाकर ले आयीं हैं । वे पीड़ित लोग जो मौत से घबरा रहे थे, काँप रहे थे, उस बहन की आवाज़ । उसकी प्रेम की वाणी को सुनकर उनमें कुछ ढाढ़स बंधा कि हमारा भी कोई इस संसार में है। उनमें से कुछ की एक दो दिन बाद ही मृत्यु हो गयी तो उनका क्रियाकर्म अपने हाथों किया । जो हिन्दू थे उनको जलाया, जो मुसलमान थे उनको दफ़नाया । इस तरह करते-करते उन्होंने कलकत्ते में ही एक सेवा-धाम बनाया । उनसे प्रभावित होकर बंगाल की स्त्रियों ने उन्हें 'टेरेसा' नाम दिया । वे सबकी माँ बन गयीं ।

उस सेवाधाम का बंगाली भाषा में नाम रखा गया **' हृदय-मन्दिर'** । मन्दिर जहाँ भगवान रहते हैं, जहाँ उनका प्रेम है, उनकी दया है । काली मन्दिर के पुजारियों ने बड़ा विरोध किया कि माँ आकर सनातन धर्म को दूषित कर देंगी, लोगों को ईसाई बना देंगी। ५-६ महीने विशेष विरोध रहा । परन्तु माँ के काम को देखकर सब इतने प्रभावित हुए कि पुजारी भी माँ के पास जाने लगे । कुछ तो यही समझने लगे कि वे काली माँ ही हैं । दोनों मन्दिरों की दीवार के साथ दीवार लगती हैं । उसके बाद किसी ने उनका विरोध नहीं किया । वे लाबारिस नवजात शिशुओं को उठाकर ले आतीं और माँ की तरह उनका पालन-पोषण करतीं । वे शिशु उन्हीं की गोद में खेलते । जैसे माँ अपने बच्चों को भोजन कराती हैं, वैसे ही वे उन बच्चों को भोजन करातीं थीं ।

धीरे-धीरे माँ के साथ और कई लोग, विशेषकर बहनें सेवा में सहयोग देने आनी लगीं जिन्हें 'सिस्टर' कहते थे । उनका नाम पड़ गया **' मिशनरीज़ ऑफ़ चैरिटी** ' अर्थात ' सेवा करने वाली देवियाँ '। उनका काम धीरे-धीरे बढ़ता गया । उनके पास पैसा नहीं था । वह सादा सफ़ेद साड़ी जिसमें हरे रंग का बॉर्डर होता था, पहनती थीं । उन्होंने कभी किसी से कुछ माँगा नहीं,

किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया । कुछ ऐसी ईश्वर की कृपा होती थी कि जितने रुपये-पैसे की ज़रूरत होती थी, लोग ख़ुद आकर दे जाते थे ।, माँगने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी ।

जिस प्रकार उस ह्रदय मन्दिर में अन्य लोग रहते थे, वे स्वयं भी वैसे ही वहाँ रहती थीं। खाना भी उनकी तरह ही दाल-भात खाती थीं, कोई अलग से उनके लिए खाना नहीं बनता था । वे रेल के तीसरे दर्ज़े के डिब्बे में यात्रा करती थीं, किसी उच्च श्रेणी में नहीं । वह इस तरह बहुत सालों तक सेवा करती रहीं जिससे उनका नाम सारे भारत में फैला और बाद में सारे विश्व में ।

हमारे देश की सरकार ने जो पहला पुरुस्कार उन्हें दिया वह ' पद्म श्री ' था राष्ट्रपति जी के सामने जब वे पुरुस्कार लेने गयीं तो सादी सी साड़ी पहने थीं । पुरुस्कार लिया पर कोई अहँकार नहीं । उस समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू देश के प्रधान मंत्री थे । नेहरू जी ने अपनी बहिन श्रीमती विजयलक्ष्मीं पण्डित से पूछा, " आज जब आपने टेरेसा को पुरुस्कार लेते देखा तो आपके मन की क्या प्रतिक्रिया थी ? बहन सहजता से पूछती हैं कि, " भैया, आपकी क्या प्रतिक्रिया थी " नेहरू जी कहते हैं कि, " मैं उस वक़्त ऐसे समाज में बैठा था कि अपने आंसुओं को रोक रहा था, मेरे आंसू आना चाहते थे । मेने यह अनुभव किया कि मदर टेरेसा ने पद्मश्री का पुरुस्कार नहीं लिया बल्कि किसी नन्हे निराश्रित बच्चचे को, जिसका कोई वारिस नहीं, अपनी गोद में उठा लिया हो । बहन विजयलक्ष्मी जी की प्रतिक्रिया भी कुछ इसी प्रकार की थी । मदर टेरेसा इतनी महान बन गयीं थीं कि उनकी सेवा भावना और उनके कार्य से बड़े-बड़े लोग भी प्रभावित होते थे क्योंकि उनकी सेवा में कोई स्वार्थ नहीं था, उन्होंने अपने लिए कोई बंगला या कोठी नहीं बनवायी, कोई बैंक बैलेंस, कहीं कुछ नहीं ।

कम से कम पचास लाख लोगों की सेवा में मदर टेरेसा और उनके साथी लगे थे । कई स्कूल चल रहे थे, कई आश्रम थे । कोई भय नहीं, प्रेम ही प्रेम था । पीड़ित लोग आते थे, कुष्ठ रोगी भी आते थे, सबकी सेवा होती थी । यह नहीं देखा जाता था कि कोई हिन्दू है या मुसलमान या ईसाई । जो बहनें वहाँ काम करती थीं उनकी पहले एक साल तक शिक्षा होती थी कि वो क्यों आयीं हैं वहाँ काम करने । जब माँ को विश्वास हो जाता था कि वे संकल्पवान हैं, उनमें दृढ़ता है, तब वो उन्हें अपने संगठन में लेती थीं । वे संकल्प लेती थीं कि " मुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं तो मन्दिर या गिरजाघर जाकर नहीं अपितु इन रोगियों की सेवा करते हुए ही

दर्शन करने हैं । मेरे लिए ये व्यक्ति ही ईश्वर हैं । मुझे ऐसे सेवा करनी है जैसे मैं ईश्वर की सेवा में हूँ ।" यह उनकी प्रतिज्ञा थी तथा इसी का अभ्यास किया जाता था ।

भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि वैराग और अभ्यास एक दिन में नहीं आता। इसके लिए दृढ़ संकल्प लिया जाता है। संकल्प को साक्षात रूप लेने में समय लगता है। बार-बार हम गिरेंगे और उठेंगे। इसी का नाम अभ्यास है। ' try again' 'try again' कोशिश करते रहोगे तो सफलता मिलेगी । संकल्प को दृढ़ करने के लिए बार-बार सेवा करें ।

कुछ बुज़ुर्ग लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि उनके चार-चार लड़के-बहुएँ हैं लेकिन कोई उनकी सुध नहीं लेता । ये भावना कि हमारा कोई नहीं है, बहुत दुःख देती है। मदर टेरेसा की मुख्य बात यही थी कि जो असहाय, पीड़ित लोग उनके पास आते थे वे यह अनुभव करते थे कि हमारा भी कोई है ।

परमार्थ के रास्ते में सेवा एक मुख्य अंग है । कुछ लोग घृणा के साथ दान करते हैं । - 'ये ले दो रोटी खा ले, ये ले दो पूरी ले ले' । हम कभी भी भिखारी में भगवान के दर्शन नहीं करते । वैसे हमारे यहाँ दानी पुरुष भी बहुत हैं । मेरे पिता जी के एक मित्र बम्बई में थे । वो ५०० व्यक्तियों को रोज़ खाना खिलाते थे । उन्हें खाना खिलाकर वही खाना आप भी खाते थे। बहुत से ऐसे लोग भी हैं, परन्तु घृणा करने वाले भी काफ़ी हैं । ईश्वर समझ कर कोई नहीं खिलाता । कभी भगवान भी भिखारी का रूप धर कर आ जावें तो उनका भी तिरस्कार कर देवें। इसलिए हम दान करने का वास्तविक पुण्य लाभ प्राप्त नहीं करते ।

पूजा में केवल आँख बन्द करने को ही महत्व नहीं देना चाहिए । पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे कि ये जो आँख बन्द करते हैं । यह महाशक्ति की पूजा है ताकि हम माँ से शक्ति का दान लेकर लोगों की सेवा कर सकें । वास्तव में सेवा ही असली साधना है ।

हम गीता पढ़ लेते हैं, सदग्रंथ पढ़ लेते हैं, परन्तु भगवान ने हमें जो आदेश दिया है कि हम किस प्रकार कर्म करें, उस पर ध्यान नहीं देते, उस पर कभी मनन नहीं करते । हम अपने कर्मों को वैसा बनाने का प्रयास नहीं करते । हमें भगवान ने जीवन जीने की कला सिखाई है । हम कहते हैं कि हम भगवान के अनुयायी हैं, भक्त हैं परन्तु सच्चा अनुयायी कोई बिरला ही

होगा । यदि हम इस प्रकार कर्म करें तो आप सब लोग मदर टेरेसा की तरह बन सकते हैं । कुछ करने की ज़रूरत नहीं, व्यवहार से ही ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है । वास्तव में हमारा व्यवहार ही हमारा 'test'' है । किताबें पढ़ते रहें पर परीक्षा में तभी सफलता मिलेगी जब हम परीक्षा के प्रश्नों के योग्य उत्तर देंगे । साधना में हम तभी सफल होंगे । व्यवहार हमारा एक परीक्षा-केंद्र है । जो यहाँ व्यवहार में सफल नहीं होता, भले ही उसको प्रकाश के दर्शन हो जायें या किसी अन्य स्वरुप के दर्शन हो जायें । उससे तो अभिमान हो जायेगा । हमें तो सेवा ही करनी होगी ।

भगवान ने कहा है कि कर्म करो । कर्म को विकर्म बनाओ, विकर्म को भी अकर्म बना दो । भगवान गीता में स्वयं बताते हैं कि मैं जो कर्म करता हूँ वो अकर्म हैं । इसका फल नहीं है, संस्कार भी नहीं बनता है - ये है व्यवहार। सेवा करो परन्तु बदले में कुछ लेने का आशय न हो । सेवा कोई प्रसद्धि या पद पाने कि लिए न हो । कोई पैसा इकट्ठा करने या अपना कोई मकान-सम्पत्ति बनाने के लिए न हो। मदर टेरेसा को नोबेल पुरुस्कार मिला, हमारी सरकार ने उन्हें भारत रत्न की उपाधि से सम्मानित किया उन्हें पेंशन, रुपया आदि सब मिलता था, केवल दीन दुखियों की, मानव -मात्र की सच्ची सेवा करने के अभिनन्दन स्वरुप ।

कहने का आशय है कि ऐसे महान व्यक्ति के जीवन का अनुसरण करना चाहिए, यही सत्संग करना है । सत्संग का मतलब यह है कि जो सत्पुरुष हों, जो ईश्वरमय हों, जिनका जीवन ईश्वरमय हो, जिनके शरीर से ईश्वर की रशिमयां निकलती हैं, ऐसे सिद्ध संतों -साधुओं के सानिध्य में रहकर उनके गुणों को ग्रहण करना एवं उनके उपदेशों को आत्मसात करना। ये स्थिति थी मदर टेरेसा की। वो संत थीं जिन्होंने ६५ साल से भी अधिक समय तक सेवा कार्य किया । वे ८२-८३ वर्ष की आयु में भी सेवा कार्य करती रहीं और कोई विशेष आराम उन्होंने अपने लिए नहीं माँगा। उनके पास जो लोग बैठते थे उनको शांति मिलती थी । ऐसे व्यक्ति को ही संत कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का संग ही प्रेरणा देता है और ईश्वर प्रसादी देता है। उनके आश्रम में सेवा करने वाली बहनें जो सन्यासिनी और पुरुष सेवक जो सन्यासी कहलाते थे, वे सब त्याग, वैराग्य, ज्ञान व सेवा की मूर्ति हैं - प्रभु की वरद और कृपापात्र विभूतियाँ हैं। वे वास्तव में प्रभु रूप ही हैं । गुरुदेव सबका कल्याण करे । राम सन्देश : जुलाई-सितम्बर, २०१४

हमें दिखावटीपन से बचना चाहिए

" जब मैं था, तब हरि नाहीं , अब हरि हैं, मैं नाहीं
प्रेम गली अति सांकरी, जामें, दो न समाहिं ।"

सब संतों ने यही कहा है कि, जो प्रेम में रहते हैं, सत्संग करते हैं, महापुरुषों का जूठा भोजन करते हैं, सत्य की कमाई खाते हैं, धोखा देकर किसी का शोषण नहीं करते, वही प्रेम-गली में पाँव रख सकते हैं । भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस बात को तो वैज्ञानिक भी मानते हैं । "जैसा अन्न, वैसा मन।" आप जिस प्रकार का खाना खाते हैं, उसी प्रकार का आपका मन भी बन जाता है। यदि आपका भोजन नेकी की कमाई का होगा और ईश्वर की याद में पकाया गया होगा तो हमारा चित्त भी मधुर होगा ।

रावण बहुत विद्वान था । लेकिन उसको बहुत अहँकार था जिसने उसे धूल में मिला दिया। अपने व्यवहार में हम ऐसा देखते हैं कि कम पढ़े-लिखे या छोटी नौकरी करने वाले लोग अपने व्यवहार में कम अहँकार वाले होते हैं, इनमें दिखावटीपन कम होता है लेकिन जो लोग धनवान या विद्वान (अधिक पढ़े-लिखे) होते हैं उनमें अहं या अहंकार बहुत होता है। दीनता सबसे अच्छी चीज़ होती है, दिखावटीपन अच्छा नहीं होता ।

इस रास्ते पर चलने वालों को अपने विचारों से अति-सूक्ष्म बनना है। निन्दा हमें बुरी लगती है। हम किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को यदि ज़रा कुछ कह दें तो उन्हें क्रोध आ जाता है। हमारा व्यवहार ही सच्ची साधना है। हमारे देश की साधना प्रेममयी, आत्म साधनों से युक्त सूक्ष्म मानी जाती है। मुख्य साधन दीनता है, प्रेम है ।

" कहु नानक मैं नाहिं कोई गुन, राखि लेउ सरनाई।"

मैं किसी लायक नहीं हूँ, मेरे पीछे कोई नहीं है, आप मुझे अपनी शरण में ले लें ।

हमें प्रेम को अपनाना है, दीनता को अपनाना है । करुणा मुख्य साधन है। हमें दिखावटीपन से बचना चाहिए। हमें किसी दूसरे का नुकसान, उसकी हानि नहीं करनी चाहिए चाहे अपनी हानि ही क्यों न हो जाय । फ़ारसी में ग़रीबी को आजिज़ी कहते हैं। इससे मन कोमल बनता है । मन जितना ही कोमल होगा, उतना ही हमारा अधिकार बनेगा । फ़रीद साहब

खड़े थे, किसी व्यक्ति ने उनके गाल पर थप्पड़ जड़ दिया। उन्होंने उसे बुलाकर कहा, " भाई, इस दूसरे गाल पर भी एक थप्पड़ और लगा दो । "

साधना करने वाले इन बातों को समझते हैं । सांसारिक व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते । हमारा व्यवहार कुछ है और बोली कुछ और है । हमारे राम और रहमान एक जैसे होने चाहिए। हमारा व्यवहार कोमल होना चाहिए । हे ईश्वर ! आप ग़रीब निवाज़ हैं, गरीबों की रक्षा करते हैं। परन्तु हम स्वयं यह गुण नहीं अपनाते, हम गरीबों का शोषण करते हैं । हम सबको आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। हमें महापुरुषों की चरण-रज लेनी चाहिए । हमारी माताओं, बहिनों में दीनता है, पुरुषों में उतनी दीनता नहीं होती । मैं आपकी सेवा में हूँ, अपने चरणों की रज दीजिये। ' मेरी रक्षा करें " - ये कोरे शब्द नहीं हैं, हम इनके गहरे अर्थ के भाव को समझते नहीं हैं, क्योंकि हम महापुरुषों की शरण में नहीं जाते ।

वास्तविकता यह है कि जितना आपका मन कोमल बनता जायेगा। जितने आपके विचार पवित्र होंगे, उतनी ही आपकी बुद्धि में दीनता आती चली जाएगी। परमार्थ के रास्ते में अधिक ध्यान सदव्यवहार पर देते हैं और यह प्रेरणा देते हैं कि किसी ने कुछ गलत कहा, एक कान से सुनें और दूसरे कान से निकल दें ।

आप कभी अमृतसर स्वर्ण मन्दिर गए हैं । वहाँ भक्त लोग दर्शनार्थियों के जूते सारे दिन साफ़ करते रहते हैं यह अच्छी आदत है। इससे महापुरुषों की चरणों की रज मिलती है ।

सभी महापुरुषों ने प्रेरणा दी है कि दीनता अपनायें। हमें ही महापुरुषों की शरण में जाने का प्रयास करना चाहिए । आपके जीवन में प्रकाश आ जायेगा और मधुरता होगी, आनन्द होगा । हमारा मन कोमल होगा, तभी भगवान की कोमलता प्राप्त होगी। हमारे व्यवहार में कोमलता होनी चाहिए ।

भोजन सात्विक हो, खाने में मिर्च-मसाले कम खायें । कच्चा प्याज़ न खायें। मैं एक महापुरुष की सेवा में गया । गुरूद्वारे का लंगर था । वहाँ प्याज़ दी जा रही थी । मैं उसे एक ओर रख रहा था । एक सेवादार ने कारण पूछा । मैने कहा, मैने प्याज़ खाना छोड़ दिया है । प्याज़ तामसिक है, तामसिकता का प्रतीक है । यह साधना में बाधक है । एक बार गुरु महाराज

मेरे घर आये । मैने खाने में कई प्रकार की प्याज़ बनवाई । वे मुझे एकांत में बुलाकर कहते हैं। " आपसे एक बात करनी है ।" मैने कहा, 'फरमाइए' । "आप प्याज़ खाना छोड़ दें ओर वो भी आज ओर अभी से ।" उनके शब्दों में इतनी शक्ति थी कि मैने तुरन्त प्याज़ खाना छोड़ दिया । आप कहेंगे कि प्याज़ खाने या न खाने से क्या ? ऐसा नहीं । मन पर नियंत्रण आ जाता है। विचार शुद्ध होते हैं । हम तामसिकता से दूर रहते हैं । इस रास्ते पर चलने वालों को इन आवश्यक बातों को ध्यान में रखना चाहिए । भोजन साफ़ ओर सादा रहे, जो तुरन्त पच जाये । वह भोजन न हो जो बुराई पैदा करे । यदि भोजन सच्ची कमाई का बना हो तो आपको पवित्र भाव ओर विचार आएंगे । अन्न सात्विक हो, सच्चाई का हो, तभी आत्मिक भाव पैदा होगा । गुरु महाराज के ये शब्द भूलते नहीं । कई भाई लोग रात को बहुत खाना खाते हैं । इससे साधना नहीं हो पाती । मेरे एक मित्र थे । उन्होंने कोशिश की कि कुछ योग्य बन संसार से मुक्त होऊं । वे डाक्टर थे । उतना ही खाते थे, जितना हज़म हो जाये । खैर, संक्षिप्त में, अन्न पर विशेष ध्यान देना चाहिए । जैसी कमाई होगी, वैसा ही अन्न बनेगा ।

हम सबको इसे अपनाना है । ईश्वर का दूसरा नाम ही 'सेवा' है। सबकी सेवा में लगें । यदि आपका भोजन सही नहीं होगा, आपकी वाणी सत्य नहीं होगी, माफ़ करेंगे, तो नर्क में जायेंगे । इसीलिए हमारे यहां लोग जंगलों में चले जाते हैं । इन्द्रियों को वश में करने के लिए आत्मनिरीक्षण करते हैं । ओर महीने में व्रत रखते हैं । हमारी सभ्यता धीरे-धीरे पुरानी संस्कृति छोड़ती जा रही है । इसीलिए हमारी साधना सफल नहीं हो रही। अपने आप देखें । एक कॉपी बना लें । उसमें अपनी बुराइयों को लिखें ओर उन बुराइयों को छोड़ने की कोशिश करें । अधिकांश में सफलता कम मिलती है। फिर भी प्रयत्न करना चाहिए, आपको रास्ता मिल जाएगा । इस रास्ते पर चलने वालों को अपने मन को सात्विक बनाना होगा । तीन प्रकार के गुण हैं - तामसिक, राजसिक ओर सात्विक। आपको सात्विक गुण अपनाना होगा ।

पूज्य गुरुदेव आपको शक्ति दें । इतना कठिन रास्ता तय करने में आप सफल हों । सात्विक मन, सात्विक भोजन, सात्विक वातावरण - यही आपके तीर्थ हैं और यही धार्मिकता है ।

गुरु महाराज दया करें । राम सन्देश : मई-जून, २००७